DAMAGE BOOK

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182922
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 80 G97P Accession No. PGH 1012.

Author

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

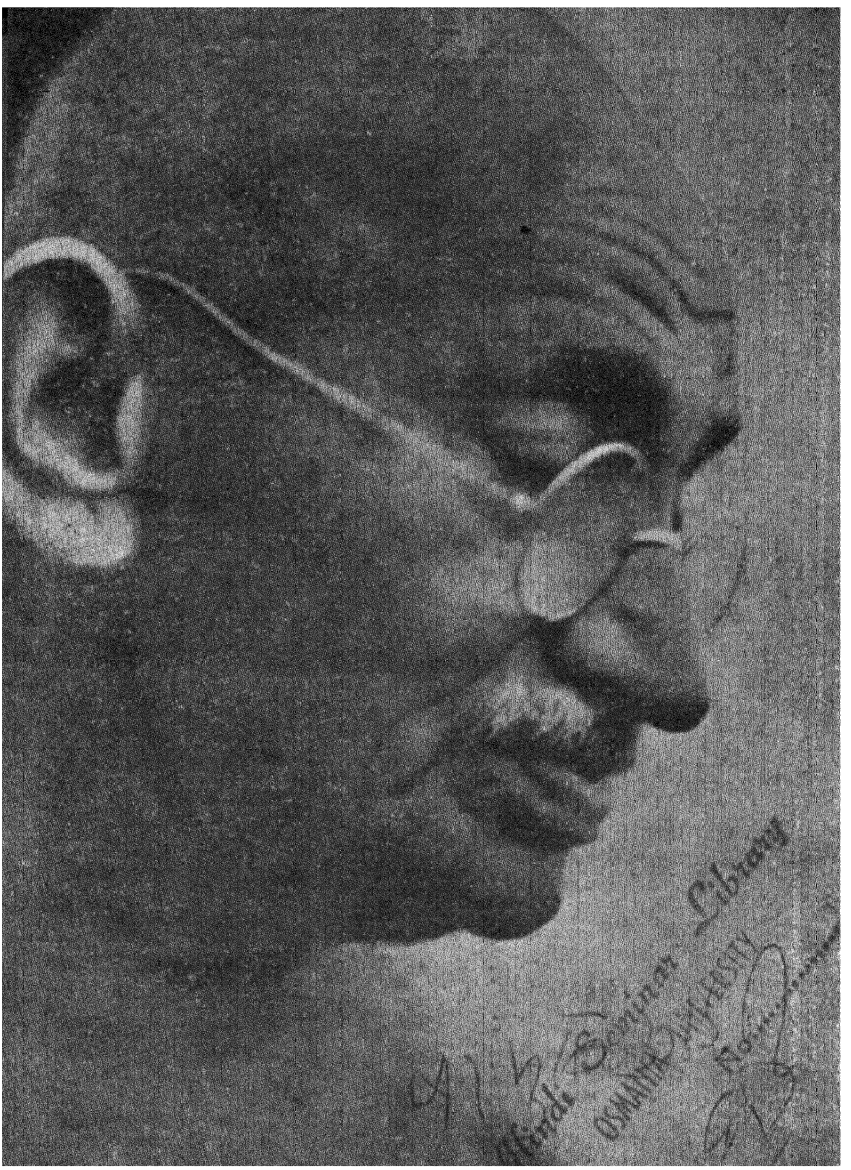

मेरा ध्येय सारी दुनिया से मैत्री है।
विश्वबंधुत्व के लिये हम जियेंगे और
विश्वबंधुत्व के लिए हम मरेंगे।'

'मेरा मिशन केवल हिंदुस्तानी जनता की एकता नहीं है। मेरा मिशन केवल हिंदुस्तान की आजादी नहीं है, चाहे आज भले ही मेरा लगभग पूरा जीवन और मेरा

प्रतीक

द्वैमासिक साहित्य-संकलन

५

शिशिर

संपादक
सियारामशरण गुप्त
नगेंद्र
श्रीपतराय
स० ही० वात्स्यायन

क्रम-सूची :

धर्मग्रंथों की साखी		...	१
तुम कहाँ शांति के सार्थवाह ?	: 'सुमन'	...	४
महाप्रयाण	: देवराज	...	५
माँग रहे हैं समाधान	: 'बच्चन'	...	७
जवाब इसका कौन दे	: वामिक	...	९
गांधीजी के प्रति	: मैथिलीशरण गुप्त	...	१०
श्रद्धांजलि	: सुमित्रानंदन पंत	...	११
सम्यक् पुरुष को देखो !		...	१३
गांधी उवाच		...	१४
संस्कृतियों का अंतरावलंबन	: भगवतशरण उपाध्याय	...	१७
शंकरा बाबू	: रघुकुल तिलक	...	३५
योजनगंधा	: मैथिलीशरण गुप्त	...	५२
यम	: चंद्रकुँवर बर्त्वाल	...	५५
तार के खंभे	: सत्येंद्र शरत्	...	६०
प्रभुजी मेरे औगुन चित न धरो	: गुलाबराय	...	७०
मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय	: जैनेंद्रकुमार	...	७९
रमंते तत्र देवताः	: 'अज्ञेय'	...	८६
गामानवों की कथा	: राजशेखर वसु	...	९३
काश्मीर का काव्य और कला	: सत्यवती मलिक	...	१०३
बरफ़ का चिराग़	: गिरिजाकुमार माथुर	...	११०
मोरस्थीय माइका की भविष्यवाणी		...	११२
साहित्य के दो पक्ष	: लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	...	११७
हिंदी साहित्य की प्रगति		...	१२३
लेखक-परिचय		...	१२५

चित्र :

गांधी	:	मुखपृष्ठ के सामने
अस्थियाँ संगम को ले जायी जा रही हैं।	...	१६
अस्थि-प्रवाह के समय वायुयान से पुष्प-वर्षा	...	१६

प्रकाशक—प्रतीक १४ हेस्टिंग्स रोड इलाहाबाद। मुद्रक—सरस्वती प्रेस, काशी

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥
प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः ।
अप नः शोशुचदघम् ॥
त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि ।
अप नः शोशुचदघम् ॥
द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥
स नः सिंधुमिव नावयाति पर्षा स्वस्तये ।
अप नः शोशुचदघम् ॥

—ऋग्वेद १।९७।१,५-८

'अपनी शिखाओं से हमारा अघ दूर करके हे अग्नि ! अपने प्रकाश से शुभ लाओ तुम्हारी किरणें सब ओर जाती हैं । सब ओर तुम्हारा मुख है, अतएव तुम सब ओर रक्षा करते हो हमारा अघ दूर करके ।

शत्रुओं के द्वेष से नौका बनकर हमें पार कर दो ।

वह नौका की भाँति हमें सिन्धु के पार हमारे कल्याण के लिए ले जाता है, अपनी शिखाओं से हमारा अघ दूर करके ।'

नव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।
तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।

—श्रीमद्भगवद्गीता, ३।१८-१९

'उसके लिये न कृत कर्म में स्वार्थ है, न अकृत में ; उसका कोई उद्देश्य संसार में किसी अन्य व्यक्ति पर निर्भर नहीं करता है ।

इसलिये असक्त भाव से सदा कर्तव्य पर आचरण कर अनासक्त कर्माचरण से ही पुरुष परम तत्व को पाता है ।'

गतद्धिनो विसोकस्स विप्पमुत्तस्स सब्बधि
सब्बगंथपहीनस्स परिलाहो न विज्जति ।
उय्युंजंति सतीमंतो न निकेते रमंति ते
हंसा व पल्ललं हित्वा ओकमोकं जहंति ते ॥
पठवीसमो नो विरुज्झति इन्द्र खीलूपमो तादि सुब्बतो ।
रहदो' व अपेतकद्दमो संसारा न भवंति तादिनो ॥

—धम्मपदं, अरहंतव

'जिसने अपनी यात्रा पूरी कर ली है, जो विशोक है, जो सर्वथा मुक्त है, जिस ने ग्रंथियाँ काट दी हैं, उसे कोई पीड़ा नहीं सताती ।

मनस्वी सदा आगे बढ़ता है, वह गेह में नहीं रमता, वह घर-बार वैसे ही तज दे है जैसे हंस अपने सरोवर को ।

पृथ्वी के समान वह अविचलित होता है, इंद्र की कीली के समान वह दृढ़ होता स्वच्छ सरोवर के समान वह निष्कलुष होता है । ऐसे व्यक्ति को संसार का क्रम नहीं बाँधत

ही हैथ शोड दी, ओ मन ह्वट इज़ गुड ,
एंड ह्वट डथ दि लार्ड रिक्वायर आफ़ दी ,

बट टु डू जस्टली, एंड टु लव मर्सी,
एंड टु वाक हंब्ली विद दाइ गाड ?

—बाइबल, मोरस्थीय माइका की वाणी

'रे मानव, उसने तुझे दिखा दिया है कि सत् क्या है, और परमात्मा तुझसे क्या चाहता है—इसके अतिरिक्त क्या कि तू न्याय्य आचरण करे, करुणा को अपनावे और विनीत भाव से परमात्मा का अनुसारी हो ?'

वला तक़ूलू लिमइँ युक्तुलु फ़ी सबीलिल्लाहि अम्वात्-
बल् अह्याऊँ वला किल् ला तशउरून् ।

कुरान, सूरा. १ पारा २, सकू ३

'मत कहो मुर्दा उन्हें, जो कि ईश्वर की राह पर बलि होते हैं ! वे जिंदा है, लेकिन तुम इसका शऊर नहीं रखते ।'

सूरा एह न आखियन जो लडनि दलाँ में जाय
सूरे सोई नानका जो मंनणु हुकम रजाय ।
हिरदे जिनके हरि बसै, सो जन कहियहि सूर
कही न जाई नानका पूरि रह्या भरपूर ॥

—श्रीगुरु ग्रंथ साहब

———

तुम कहाँ, शांति के सार्थवाह ?

हे ज्योतिवाह,
हो गये अस्त, युग का विकाल
किस महायज्ञ का रक्तदान
आक्षितिज महांबुधि हुआ लाल
अकुलायी अचला भक्ति मौन
शिव शक्तिहीन, करतल पर मुख, झुक गया भाल
मरुतों की आभा क्षीण, वरुण हतप्रभ अस्थिर
उद्विग्न, क्षुब्ध, कर रहे तराजू के पलड़ों को इधर-उधर।
यम निष्प्रभ, नचिकेता के
प्रश्नों को दुहराते बार-बार
जो अनुत्तरित रह गये
स्वर्ग-भू की सीमा के आर-पार।
दिग्वधुओं का मुख तमाच्छन्न
झुक गया व्योम अवसन्न खिन्न
लुट गयी विश्व की श्री-सुषमा, उजड़ा सुहाग
खो गया प्रतीची के कल्मष में प्राची का अनुराग-राग।
पथ पंकिल पग-पग रक्त-स्नात
सूझता पसारे नहीं हाथ
रुक गया कारवाँ त्रस्त त्रस्त
हिंसक पशुओं से भरी राह,
मानवता कातर अश्रुसिक्त
हिचकी ले-ले भर रही आह
तुम कहाँ शांति के सार्थवाह !

—'सुमन'

महाप्रयाण

रवि-सुता के शांत तट पर
लक्ष कंठों से उठे जय-घोष से पूर्णाभिनांदित,
लक्ष हृदयों की प्रणतियों मूक नुतियों से सुवंदित ;
लक्ष नयनों के सलिल से धौत-स्नात शुभाभिसिंचित,
पुण्य वपु किसका हुताशन देव को होता समर्पित—
अगरु-चंदन-आज्य-पुष्पोपायनों से सुरभि-शुचिकर ?
एकटक तकते किधर रे आज जग के नारि-नर सब ?
ज्योतिमुख वह अर्द्ध-प्रेरित कौन जाता महामानव
आज चालिस कोटि कंठों से विवश क्यों रुदन का स्वर
फूटता रे, द्रवित अस्सी कोटि दृग वह रहे झर झर ?
कौन जीवन-ज्योति जाती तिमिर-मज्जित विश्व को कर ?
आज खंडित देश का मेरे हृदय शतधा विखंडित,
विश्व के निर्माण सपनों का विमल प्रासाद भंजित ;
भग्न-खंडित देश के स्वातंत्र्य की तप-साधना रे,
खंडिता निर्मल अहिंसा-सत्य की आराधना रे ;
सत्य-शिव-चिति जा रही तज देश का मोहांध अंतर !
सत्य-शिव-चिति—बुद्ध में जगमग हुई जो फिर तिरोहित,
प्रकट ईसा में पुनः जो 'क्रूस' पर जा हुई विघटित,
अवतरित गांधी व्रती के बुद्धि-मन वाणी-हृदय में
लीन होती अब वही रे शून्य के भास्वर निलय में—
मनुज-पशु के हस्त से वंचित-प्रतारित-ध्वस्त होकर।
लो चली वह दृष्टि—करके पार जो शत वासना घन
देखती नर-लक्ष्य-ध्रुव थी निष्पलक निर्भय अकंपन ;
बुद्धि वह—मानव प्रगति का केन्द्रगामी सूत्र थामे
नयन करती विश्व जन का त्राण शत संकट-पथों में,
ऋजु हृदय—दुर्नीतिवादों का सदा करता निरादर।

मुँद गये वे दृग बरसते जो रहे करुणा भुवन पर,
मूक वाणी सत्य-सी तेजोमयी निर्मल अभयकर,
शांत रे वह ज्योति जिसके रश्मि-कण ले सैकड़ों जन
मृत्यु-तम-आक्रांत जग में बढ़ रहे थे साहसी बन—
शक्ति के पीड़न-प्रलोभन-दीप्ति की अवहेलना कर।
सूखती नर-चित्त-भू की प्रेम-वल्ली का प्रसिंचन,
लहरती मद-द्वेष-लिप्सा-ज्वाल का दुर्वेग-प्रशमन,
लोभभोगोत्ताप-मूर्च्छित मनुज की सद्वृत्तियों का—
मधुर-कोमल स्पर्श से उद्बुद्ध करता प्राण-कंपन
बह गया सहसा अतल में वह अवनि का अमृत-निर्झर!
अस्त रे मानव-गगन का आज भास्वर ज्ञान-दिनकर,
गुप्त-संचित बीस सदियों का तपःफल नयन-गोचर;
जननि के कारा-सदन में मुक्ति-दीपक की कला धर
अस्त रे भारत-कलाधर सौख्य-रजनी का सुधाकर;
रो रहीं कर याद दिशियाँ, शैल-वन-नद, अवनि-अंबर!

—देवराज

—माँग रहे हैं समाधान

१

कब, कहाँ पाप इतने छल-बल से व्याप्त हुआ
निर्दयता से करुणा का स्रोत समाप्त हुआ
किस लोक और किस युग में किसको प्राप्त हुआ
[illegible] पशुता
दानवता का प्रमाण ?
मानवता जैसे फाँक रही है राख-धूर
संस्कृति जैसे कूड़ा-कर्कट का एक घूर
सभ्यता हो गयी है लज्जा से चूर-चूर
हैं छिन्न-भिन्न विक्षुब्ध
काल, जीवन, जहान !

भू माँग रही है इस घटना का समाधान,
कण माँग रहा है इस घटना का समाधान
नभ माँग रहा है इस घटना का समाधान
मण माँग रहे हैं इस घटना का समाधान
जन माँग रहे हैं इस घटना का समाधान
मन माँग रहा है इस घटना का समाधान !

२

सुकरात संत ने पिया ज़हर का प्याला था
मीरा ने उसको चरणामृत कह डाला था
ऋषि दयानंद को पड़ा उसी से पाला था
हस्तियाँ उसी पैमाने की
विष पीती हैं !
हज़रत ईसा को चढ़ा दिया था सूली पर
तन था नश्वर, लेकिन आत्मा थी अविनश्वर
वह आज किये घर कितनों के मन के अंदर
वह वर्तमान, सदियों पर
सदियाँ बीती हैं !

हम बापू को रख सकते थे कब तक अगोर,
है जन्म-निधन जीवन डोरी के ओर-छोर,
कितना महान आदर्श हमें वे गये छोड़!
कौमें ऊँचे आदर्शों से
ही जीती हैं!

२

जो गोली खाकर गिरी मरी वह थी छाया
है अजर अमर उसके आदर्शों की काया
भारत ने जिनको युग युग तपकर उपजाया
थे हाड़-मास के व्यक्ति नहीं
बाबा गाँधी।
जो पकड़ गया वह तो है केवल छाया
कितने दिल में षड्यंत्री ने आश्रय पाया
कितने कुत्सित भावों ने उसको दी काया
वह एक नहीं है इस पातक का
अपराधी।
मन के अंदर बिठलाकर नफ़रत के मूजी
की प्रतिमा, अपने से पूछो, कितनी पूजी?
जिस भव्य भावना के प्रतीक थे बापूजी
तुमने कितनी वह अपने
जीवन में साधी?

—'बच्चन'

जवाब इसका कौन दे ?

जवाब इसका कौन दे ?
किसे अब इतना होश है
कि आज हिंद किसके सोग़ में सियाहपोश है ?
यह किसका खून बह गया
यह कौन जाते जाते दिल का राज़ सबसे कह गया
यह कौन कत्ल हो गया
फ़िसानए हयात कौन कहते कहते सो गया
जवाब इसका कौन दे ?
कि खुद हमारे हाथ इस लहू में हैं रँगे हुए
वह जिन्दगी का राज़दाँ—वह बेकसों का पासबाँ—
वतन का मीरे कारवाँ नज़र से दूर हो गया
वह जाम जो झलक रहा था
हुर्रियत के मैक़दे में देर से महक रहा था
चूर चूर हो गया
नजर से दूर हो गया
वह बूढ़ा जिस्म, हड्डियों का एक काँपता बदन
मगर उसी में इस क़दर जवाँ लहू था मौजेजन
कि जिसकी बूँद बूँद में बसी थी उल्फ़ते-वतन
लहू वो आज बह गया
वह बूढ़ा जिस्म मर गया
मगर वह काम कर गया
जिसे वो जीते जी न अपने आगे पूरा कर सका !
तमाम उम्र दर से अम्नो-आश्तीं दिया किया
तमाम उम्र जो इसी उमीद पै जिया किया
कि एक दिन ज़रूर सारे तफ़रिके मिटायगा
फ़साद का ये खोखला तिलस्म टूट जायगा ।
वही बुजुर्ग खान्दाँ
वही हमारा पासबां
हमीं से आज छुट गया,
सुहाग मादरे वतन का अपने हाथों लुट गया ।

—'वामिक़'

गांधीजी के प्रति

संवत् १९९२ वि०

संत महात्मा हो तुम जग के बापू हो हम दीनों के
दलितों के अभीष्ट वरदाता आश्रय हो गतिहीनों के
आर्य अजातशत्रुता की उस परंपरा के स्वतःप्रमाण
सदय बन्धु तुम विरोधियों के निर्दय सुजन अधीनों के।

संवत् १९९३ वि०

व्यक्त तुम्हारा बाह्य हमारे वर्तमान का अन्तर्भाग
किंतु तुम्हारे अंतरंग में उठा अतीत हमारा जाग
बापू व्यग्र भविष्य हमारा मिले तुम्हारा सुमन पराग
भारत माता के मंदिर में संग्रह रहे तुम्हारा त्याग।

माघ कृष्ण ५--२००४ वि०

अरे राम! कैसे हम झेलें अपनी लज्जा उसका शोक
गया हमारे ही पापों से अपना राष्ट्र पिता परलोक!

—मैथिलीशरण गुप्त

श्रद्धांजलि

(१)

हाय, हिमालय ही पल में हो गया तिरोहित
ज्योतिर्मय जल से जन धरणी को कर प्लावित !
हाँ हिमाद्रि ही आज उठ गया भू से निश्चित
रजत वाष्प सा अंतर्नभ में हो अंतर्हित !
आत्मा का वह शिखर, चेतना में लय क्षण में,
व्याप्त हो गया सूक्ष्म चाँदनी सा जनमन में !
मानवता का मेरु, रजत किरणों से मंडित,
अभी अभी चलता था जो जग को कर विस्मित,
लुप्त हो गया ! लोक चेतना के क्षत पट पर
अपनी स्वर्गिक स्मृति की अक्षय छाप छोड़कर !

आओ, उसकी अक्षय स्मृति को नींव बनाएँ,
उसपर संस्कृति का लोकोत्तर भवन उठाएँ !
स्वर्णशुभ्र धर सत्य कलश सर्वोच्च शिखर पर,
विश्वप्रेम में खोल अहिंसा के गवाक्षांतर !

(२)

आज प्रार्थना से करते तृण तरु भर मर्मर,
सिमटा रहा चपल कूलों को निस्तल सागर !
विनत नीलिमा में नीरव नभ करता चिंतन
श्वास रोक कर ध्यान मग्न सा हुआ समीरण !
क्या क्षण-भंगुर तन के हो जाने से ओझल
सूनेपन में समा गया यह सारा भूतल ?
नाम रूप की सीमाओं से मोह मुक्त मन
या अरूप की ओर बढ़ाता स्वप्न के चरण ?

ज्ञात नहीं : पर द्रवीभूत हो दुख का बादल
बरस रहा अब नव्य चेतना में हिम उज्वल,
बापू के आशीर्वाद सा ही : अंतस्तल
सहसा ज्यों भर गया सौम्य आभा से शीतल !
खादी के उज्वल जीवन सौंदर्य पर सरल
भावी के सतरँग सपने कँप उठते झलमल !

(३)

देव पुत्र था निश्चय वह जन मोहन मोहन
सत्य चरण धर जो पवित्र कर गया धराकण !
विचरण करते थे उसके संग विविध युग वरद
राम, कृष्ण, चैतन्य, मसीहा, बुद्ध, मुहम्मद !
उसका जीवन, मुक्त रहस्य कला का प्रांगण,
उसका निश्छल हास्य स्वर्ग का था वातायन !
उसके उच्चादर्शों से दीपित अब जन मन,
उसका जीवन स्वप्न राष्ट्र का बना जागरण !

विश्व सभ्यता की कृत्रिमता से हो पीड़ित
वह जीवन सारल्य कर गया जन में जागृत !
यांत्रिकता के विषम भार से जर्जर भू पर
मानव का सौंदर्य प्रतिष्ठित कर देवोत्तर !
आत्मदान से लोक सत्य को दे नव जीवन
नव संस्कृति की शिला रख गया भू पर चेतन !

(४)

हिम-किरीटिनी, मौन आज तुम शीश झुकाए ?
मौ वसंत हों निर्मम अंगों में कुम्हलाए !
वह जो गौरव शृंग धरा का था स्वर्गोज्वल
टूट गया वह ! हुआ अमरता में निज ओझल !
लो, जीवन सौंदर्य ज्वार पर आता गांधी,
उमने फिर जन सागर में आभा पुल बाँधी !

खोलो मा, फिर बादल-सी निज कबरी श्यामल,
जन मन के शिखरों पर चमकें विद्युत के पल !
हृदय हार सुरधुनी तुम्हारी जीवन-चंचल,
स्वर्ण श्रोणि पर शीश धरे सोया विंध्याचल !
गज रदनों से शुभ्र तुम्हारे जघनों में घन
प्राणों का उन्मादन जीवन करता नर्तन !
तुम अनंत यौवना धरा हो, स्वर्गाकांक्षित,
जन को जीवन शोभा दो, भू हो मनुजोचित !

—सुमित्रानंदन पंत

सम्यक् पुरुष को देखो !

महान् विभूतियों के तिरोधान पर शोक-प्रकाशन, संबंधियों से समवेदना, दिवंगत आत्मा की शांति के लिए प्रार्थना करने की परिपाटी है ।

किंतु जिसका प्रयाण हमारे संपूर्ण जीवन को, हमारी समस्त विश्वास-परंपरा को, हमारे पूरे कर्म-संचय को, और हमारी घनीभूत मानव संवेदना को एक जाज्वल्यमान चुनौती बनकर हमारे बीच में ही रह गया है, उसका तिरोधान कैसा, और उस पर शोक कैसा ? समग्र मानवता को जिसने अपनाया, विश्वमैत्री के लिए जो जिया और मरा, जो स्वय मूर्तिमान समवेदना रहा, उसके किस अपने को इतर जनों से पृथक् किया जाय ? और शांति ! यदि देह-कारा-मुक्त आत्मा को अनुभूति है, यदि प्रार्थनाएँ कहीं पहुँचती हैं, तो शांति की वह भास्वर प्रतिभा ही उनकी शांति के लिए प्रार्थना कर रही होगी, जिनके बीच से वह उठ गयी !

'प्रतीक' केवल उस जीवन की चुनौती के सामने स्तब्ध स्वर से उसी वाक्य की आवृति करता है, जो उन्नीस सौ वर्ष पहले क्रूस पर टँगे हुए ईसा को देखकर जनता के मुँह से बरबस निकल पड़ा था : 'एक्सी होमो'—मानव को देखो, पुरुष को देखो ! —वा०

गांधी उवाच

"मेरी प्रतिज्ञा पूरी होने में जितना समय लगने की आशा थी वह दिल्ली के नागरिकों की, जिनमें हिंदू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता भी सम्मिलित हैं, सद्भावना के कारण उससे पहले पूरी हो गयी...हजारों व्यक्तियों ने मेरे पास लिखित आश्वासन भेजे हैं कि लोगों के दिलों में परिवर्त्तन हो गया है और वे सबको भाई मानते हैं। सारी दुनिया से तार द्वारा बधाइयाँ मिली हैं। मेरे इस कार्य में ईश्वर ज्यादा और क्या कर सकते हैं। मेरी प्रतिज्ञा पूरी होने में भावना सबसे महत्त्वपूर्ण चीज है, जिसके बिना मेरी प्रतिज्ञा का उद्देश्य पूरा नहीं होता। मेरी प्रतिज्ञा का उद्देश्य यूनियन तथा पाकिस्तान में हिंदू, मुस्लिम, सिख में मित्रता स्थापित करना है। यदि यूनियन (हिंदुस्तान) में ऐसा हो जाता है तो जैसे रात के बाद दिन होता है वैसे ही पाकिस्तान में भी ऐसा होना ही चाहिए।"

—१८ जनवरी १९४८ को उपवास निष्पन्न करते समय गांधीजी द्वारा दिये गये लिखित संदेश से।

"मैंने थोड़ा तो लिखवा दिया है। वह सुशीला बहन आपको सुना देंगी।

"आज का दिन मेरे लिए तो है, आपके लिए भी मंगलदिन मनाया जाय। जो दया आप लोगों से—दिल्ली के निवासियों से, दिल्ली में जो दुःखी शरणार्थी पड़े हैं उनसे, यहाँ की हुकूमत के सब कारोबार से—मुझे मिली है, उसे, मुझे लगता है कि मैं जिंदगी भर भूल नहीं सकूँगा। कलकत्ते में ऐसे ही प्रेम का दर्शन मैंने किया। इस जगह पर मैं कैसे भूल सकता हूँ कि शहीद साहब ने कलकत्ते में बड़ा काम किया। अगर वह नहीं करते तो मैं ठहरनेवाला नहीं था। शहीद साहब के लिए हम लोगों के दिल में बहुत शक थे। अभी भी हैं। उससे हमको क्या? आज हम सीखें कि कोई भी इनसान हो, कैसा भी हो, उससे हमको दोस्ताना तौर से काम करना है, हम किसी के साथ किसी हालत में दुश्मनी नहीं करेंगे, दोस्ती करेंगे। शहीद साहब और दूसरे चार करोड़ मुसलमान पड़े हैं। वे सबके सब फरिश्ते तो हैं ही नहीं, ऐसे ही हिंदू-सिख थोड़े फरिश्ते हैं, अच्छे भी हैं। अच्छे और बुरे हममें हैं, लेकिन बुरे कम हैं। हमारे यहाँ

जिसको जरायम पेशा कबीला कहते हैं, वह भी पड़े हैं। हमारे यहाँ जिसको जंगली जातियाँ कहते हैं, वे भी पड़ी हैं। उन सबके साथ मिल-जुलकर रहना है।

"मैं भविष्य-वेत्ता नहीं हूँ। फिर भी मुझे ईश्वर ने अकल दी है, मुझको ईश्वर ने दिल दिया है। उन दोनों को टटोलता हूँ और आपको भविष्य सुनाता हूँ कि अगर हम किसी-न-किसी कारण से एक दूसरे से दोस्ती न कर सके, यहाँ के ही नहीं, पाकिस्तान के और सारी दुनिया के मुसलमानों से दोस्ती न कर सके, तो समझ लें, इसमें मुझे कोई शक नहीं है कि हिंदुस्तान हमारा नहीं होगा, पराया हो जायगा, गुलाम हो जायगा। पाकिस्तान गुलाम होगा, यूनियन भी गुलाम होगा, और जो आजादी हमने पायी है वह आजादी हम खो बैठेंगे।

"आज इतने लोगों ने आशीर्वाद दिये हैं। सुनाया है कि हम सब हिंदू, सिख, मुसलमान भाई-भाई बनकर रहेंगे और किसी भी हालत में, कोई भी कुछ कहे. दिल्ली के हिंदू, सिख, मुसलमान, पारसी, ईसाई, सब जो यहाँ के बाशिंदे हैं, सब शरणार्थी हैं, वे भी दुश्मनी नहीं करनेवाले हैं। यह थोड़ी बात नहीं है। इसके माने यह हैं कि अबसे हमारी कोशिश रहेगी कि सारे हिंदुस्तान और पाकिस्तान में जितने पड़े हैं वे सब एक में मिलकर रहेंगे। हमारी कमजोरी के कारण भले ही हिंदुस्तान के दो टुकड़े हो गये, वे भी दिल से मिले होते हैं।...भेद क्यों हो? जो दिल्ली में हो वही सारे यूनियन में हो और जो सारे यूनियन में होगा तो पाकिस्तान में होना ही है, इसमें आप शक न रखें। आप न डरें, एक बच्चे को भी डरने का काम नहीं रहा। आज तक हम, मेरी निगाह में, शैतान की ओर जाते थे। आज से मैं उम्मीद करता हूँ कि हम ईश्वर की ओर जाना शुरू कर देते हैं। लेकिन एक वक्त हमने अपना चेहरा—मुँह—ईश्वर की ओर रखा तो वहाँ से कभी नहीं हटेंगे। ऐसा हो तो सारे हिंदुस्तान, पाकिस्तान, दोनों मिलकर इस सारी दुनिया को ढाँक सकेंगे, सारी दुनिया की सेवा कर सकेंगे और सारी दुनिया को ऊँची ले जा सकेंगे। मैं और कोई कारण से जिंदा रहना नहीं चाहता हूँ। इनसान जिंदा रहता है तो इनसानियत को ऊँचा उठाने के लिए। ईश्वर और खुदा को ऊपर उठाना ही इनसान का फर्ज है। जबान से ईश्वर, खुदा, सत श्री अकाल कुछ भी कहो, वह सब झूठा है अगर उनके दिल में वह नहीं है।.....आखिर में मुझको परम शांति नहीं होनेवाली है जब तक यहाँ के जो शरणार्थी हैं, दुःखी हैं, अपने घरों को वापस न जा सकें और जो मुसलमान यहाँ से भाग गये हैं, हमारे डर से, मार-पीट से, और जो आना चाहते हैं, आराम से न रह सकें।

"बस, इतना कहूँगा। ईश्वर हम सबको, सारी दुनिया को अच्छी अकल दे, होशियार करे और अपनी ओर खींच ले, जिससे हिंदुस्तान और सारी दुनिया सुखी हो।"

—उपवास निष्पन्न करते समय दिये गये मौखिक भाषण के कुछ अंश।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ॥
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टा पूर्तेन परमे व्योमन् ।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः ॥

—ऋग्वेद, १०।१४।७-८

"जाओ, उस प्राचीन मार्ग से जाओ
जिससे हमारे पितर पुरा काल में गये ।
वहाँ तुम दोनों देवों को, वरुण और
यम को, स्वधा ग्रहण करते देखोगे ।
यम से मिलो, पितरों से मिलो, परम स्वर्ग में
सुसंपादित कर्मों के पुण्य का लाभ करो ।
पाप को छोड़ पुनः नवगृह को प्राप्त हो,
नया आलोकमय तन धारण करो ।"

———

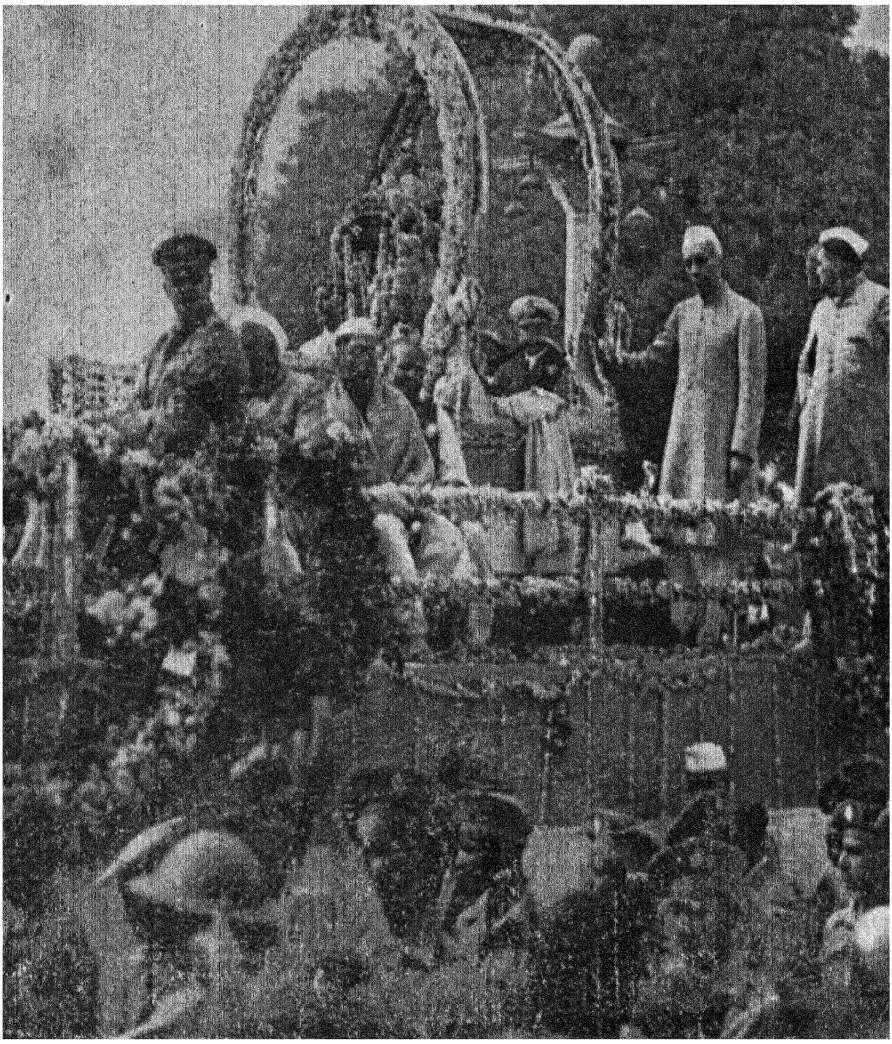

ऊपर : राष्ट्रपिता गांधी की अस्थियाँ राष्ट्रनेता जवाहरलाल की रक्षा में त्रिवेणी को जा रही हैं।
नीचे : अस्थियाँ प्रवाहित करने के समय विमान से पुष्पवर्षा।

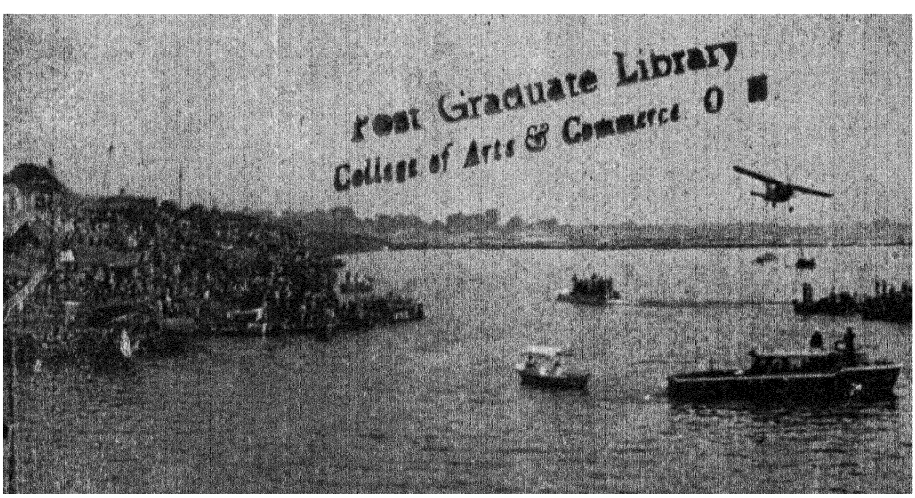
Post Graduate Library
College of Arts & Commerce

भगवतशरण उपाध्याय

संस्कृतियों का अंतरावलंबन

सभ्यता सामाजिक विकास की एक मंजिल है, वह मंजिल जब मनुष्य अपनी बर्बरता छोड़, एकाकी पाशविक बनैलापन छोड़, सचेत ग्राम-जीवन बिताने लगा था, जब उसने आग का प्रयोग सीखा और अपना आहार राँधकर खाने लगा, जब उसने कृषि का आरंभ किया और यह जाना कि गोल पहिया ही चिपटी जमीन पर घूम-दौड़ सकता है ; संक्षेप में, जब वह दल अथवा सभा में बैठ सकने की तमीज रखने लगा।

संस्कृति एक प्रकार का मानसिक विकास है, एक विशिष्ट दृष्टिकोण, जो सभ्य मानव में हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता। यह एक प्रकार का संस्कार है, मानसिक निखार ; और यह संस्कार व्यक्तिगत भी हो सकता है, सामूहिक भी। यहाँ हमारा उद्देश्य सामूहिक संस्कृति पर विचार करना है। मनुष्यों का सचेत समुदाय समाज का निर्माण करता है ; समुदाय समाज का पंजर है, सामूहिक चेतना उसका प्राण। जब सामाजिक मान्यताएँ किसी समूह-विशेष की अपनी और अन्य समूहों से भिन्न हो जाती हैं, जब इन उचित-अनुचित मान्यताओं के अर्थ वह समूह त्याग और बलिदान करने पर तत्पर और आतुर हो जाता है, जब वह समूह अपने अतीत और इतिहास को अन्यों से भिन्न मान उसमें अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित यश पर गर्व करता है और स्वयं अपनी भावी महत्वाकांक्षाओं के पाये उस पर रखता है तब उसकी सामाजिक संज्ञा 'राष्ट्र' अथवा 'नेशन' होती है। सुदूर के समान पूर्वज की संतति होने का विश्वास, समान धर्म, समान अंधविश्वास, समान त्रास और समान उल्लास, समान प्रयास और समान पार्थिव आवास की सीमाएँ इस समूह-विशेष अथवा राष्ट्र को आंतरिक घनता प्रदान करती हैं। ऋग्वैदिक मंत्र (१०।१९१।२) **संगच्छद्ध्वं संवदद्ध्वं संवो मनांसि जानताम्** में इसी सम्मिलित प्रयास, सम्मिलित संलाप-विलाप, सम्मिलित नाद, सम्मिलित मानसिक चेष्टाओं-वांछनाओं की ओर संकेत है। इसी प्रकार—**समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः, समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति** (ऋग्वेद, १०।१९१।३ और आगे) आदि में भी उसी संयुक्त प्रयास, सम्मिलित विश्वास और सामूहिक संघात की प्रेरणा की ओर निर्देश है। संस्कृति इसी समुदाय-विशेष का अधिकृत, आहृत, आदृत, व्यवहृत रूप है। राष्ट्र अथवा यह समुदाय जिन पूर्वकालिक प्रयत्नों, चेष्टाओं, कीर्तियों, भावनाओं, हर्ष-

विषादों, विजय-पराजयों, आचार-विचारों, वेश-भूषाओं, साहित्य-कलाओं, नृत्य-गाथाओं, विचित्रताओं आदि को अपनी, केवल अपनी, कहकर घोषित करता है वही उसे आकृति देती हैं, उसका कायिक निर्माण करती और उसे रूपरेखा प्रदान करती हैं। इन्हीं विशेषताओं से राष्ट्र अथवा नेशन पहचाना जाता और अन्य मानव दलों से पृथक किया जाता है। इन्हीं अवयवों से उसका व्यक्तित्व बनता है।

इस सिद्धान्त और 'प्रतिज्ञा' के अनुसार सांस्कृतिक अहमत्व और अपनापा ही संस्कृति-विशेष का प्राण है, परंतु यही उस पर गहरा व्यंग भी है—व्यंग अथवा, सत्यतः, मिथ्या धारणा। वस्तुतः किसी सामाजिक दल अथवा राष्ट्र की अपनापा जैसी कोई वस्तु न कभी रही है, न रह सकती है। निस्संदेह समय-समय पर, अवस्था-विशेष में, सचेत मानव समूह ने प्रयत्नतः अथवा अज्ञानतः अपनी क्रियाओं-धारणाओं में विशेषताएँ विकसित की हैं, परंतु समाज-चेतना अथवा सामाजिक व्यवहार ने स्वयं उनको चिरकाल तक उस दल-विशेष की नहीं रहने दिया है। शीघ्र ही उनको अन्य दलों ने स्वायत्त कर लिया है और स्वायत्त करके कालांतर में न केवल उन्हें वे अपना बताने लगे हैं, वरन् उन पर मरने-मिटने भी लगे हैं। स्वयं 'सामाजिक'—सामूहिक—व्यवहार की समष्टि में वह व्यष्टि निहित है जिसकी अभिसृष्टि में एक तात्विक विरोध है। जिस सामाजिक चेतना के फलस्वरूप व्यक्ति-व्यक्ति का पारस्परिक व्यवहार दल अथवा सजग समाज की सृष्टि करता है, वही दल-दल, समाज-समाज में भी एक अस्पष्ट संबंध स्थापित करती है। सामाजिक व्यवहार संबंध पर निर्भर करता है, और इस व्यवहार का बाह्य रूप आदान-प्रदान है, व्यक्ति-व्यक्ति में, दल-दल में, समाज-समाज में। जातियों का संक्रमण, पारस्परिक संबंध, निकटावास, अंतःसंघर्ष, व्यापारिक विनिमय इन आदान-प्रदानों के आधार हैं। इनकी अनिवार्य अवर्ज्य स्थिति के कारण यह संभव नहीं कि समाज-विशेष अथवा राष्ट्र-विशेष की मान्यता-विचित्रता अपनी बनी रह सके। जाने-अनजाने वह औरों की हो ही जाती है; राष्ट्र का संकोच, उसकी व्यावहारिक रूढ़िवादिता, उसे औरों की होने से नहीं रोक सकती, नहीं रोक सकी है। सांस्कृतिक प्रजनन और प्रसार का यही स्वाभाविक-प्राकृतिक नियम है, यही उसका अनिवार्य विधान है, यही उसका सूक्ष्म रहस्य है।

परिणामतः इस निष्कर्ष का अर्थ यह है कि जिस विचित्रता या विशेषता को समाज-विशेष अथवा राष्ट्र-विशेष अन्यों से भिन्न अपना कहता है वह संभवतः उसका नहीं, औरों का है, जिसे वह औरों का और विजातीय कहता है वह संभवतः उसका है, केवल उसी का, औरों का नहीं। संस्कृति तत्वतः एक की नहीं, अनेक की है, उसकी अभिसृष्टि बहुमौखिक और मिश्रित है। वह एक अविशेषित (मैं जान-बूझकर इस शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ) परंपरा है जिसका निर्माण मनुष्य अपने सामाजिक विकास के क्रम में अपने व्यवहारिक जीवन में अनायास करता जाता है। जैसे बच्चा अपने पारिवारिक

वातावरण में अपने आप सीखता है वैसे ही समाज-विशेष अपने समाज-परिवारों के व्यवहारिक वातावरण में अपने आप सीखता है। इससे राष्ट्र-विशेष अथवा समाज-विशेष की संस्कृति-विशेष की कल्पना शायद खरी समीक्षा से अवैज्ञानिक सिद्ध होगी। वस्तुतः संस्कृति एकदेशीय नहीं, अन्तर्देशीय, अन्तर्जातीय, अन्तःसामाजिक है। संस्कृतियों के स्वावलंबन का कोई अर्थ नहीं होता, उनके **अंतरावलंबन** मात्र की वैज्ञानिकता सिद्ध है, ग्राह्य है।

देश-विशेष की सीमा पर समन्वित समाज-विशेष के सुदूर क्षितिज पर अन्य जाति अपने संक्रमण-काल में मँडराने लगती है, भूमि पर जल थाहने की भाँति सँभाल-सँभाल, टोह-टोहकर जब वह आगे बढ़ती है, उसका आकार स्पष्ट होने लगता है। देशी राष्ट्र अथवा जाति में उसके प्रति प्रतिक्रिया होती है। दोनों के समीप आते ही संघर्ष छिड़ जाता है। दोनों एक काल तक सतर्क हो घृणा और अविश्वास से एक दूसरे के आचार-व्यवहार, संगठन-संस्था को देखते हैं, एक दूसरे की मान्यताओं की उपेक्षा करते, उनका उपहास करते हैं। परंतु संघर्ष के बाद एक प्रकार का समन्वय होता है जिसके फलस्वरूप एक के आचार-व्यवहार, संगठन-संस्थाएँ दूसरे की हो जाती हैं। यह इस सामाजिक समन्वय की व्यंगात्मक वास्तविकता है। हमले होते हैं, संघर्ष होते हैं, जातियाँ घुल-मिलकर एक हो जाती हैं, संस्कृतियाँ समन्वित हो जाती हैं, फिर हमले होते हैं, फिर वही क्रम चलता है, वही सांस्कृतिक समन्वय होता है। यह चिरकालिक नित्य-सत्य है। कालान्तर में, क्रमिक युगांतों में, जब-जब समाज-विशेष अपने पिछले आँकड़े सहेजेगा, ('स्टाक-टेकिंग' करेगा) तब-तब वह पायेगा कि उसकी अनेक प्राचीन मान्यताएँ अब मान्यताएँ नहीं रहीं, घृणाओं में बदल गयी हैं, घृणाएँ मान्यताएँ हो गयी हैं, प्राचीन रूढ़ियाँ खो गयी हैं, विश्वास की नयी कोंपलें फूट निकली हैं। फिर आँकड़े सहेजिए फिर वही बात, फिर वही और फिर वही। अतः संस्कृतियों का स्वावलंबन नहीं अंतरावलंबन है।

इस सिद्धांत के निरूपण के अर्थ अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, वस्तुतः वे एक समूचे ग्रंथ की सामग्री प्रस्तुत करेंगे। यहाँ हम कुछ-एक, केवल कुछ-एक के उदाहरण पेश करेंगे। संस्कृति में वेश-भूषा, कला, साहित्यादि का विशिष्ट स्थान होता है इससे पहले हम इन्हीं पर विचार करेंगे।

प्राचीन से प्राचीन काल में भी भारतवर्ष में वसन के क्षेत्र में केवल दो वस्त्र—धोती और शाल या चादर—प्रयुक्त होते थे। आर्यों के आने के बाद 'उष्णीष' (पगड़ी), 'द्रापी' (एक प्रकार की बंडी) और नारियों के लिए एक प्रकार के कंचुक का प्रचलन हुआ। इनमें द्रापी आर्यों के मध्य-एशिया से संपर्क का परिणाम था। प्राचीन हिंदू-काल में भी प्रायः उष्णीष (जब-तब), उत्तरीय (चादर) और अधोवस्त्र (धोती)

का ही प्रयोग रहा। इनको बिना सिले ही प्रयोग में लाया जाता था, इसी कारण एक-आध सूत्रकारों ने तो सुई से सिले वस्त्रों का व्यवहार वर्जित ही कर दिया, यद्यपि वैदिक साहित्य में सुई और उससे सिले वस्त्रों का हवाला मिलता है। कमसे कम द्रापी को तो बिना सिले प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। परंतु पश्चात्कालीन वह सारी भारतीय वेष-भूषा जो आज राष्ट्रीय कही जाने लगी है, वास्तव में अभारतीय है और भारतीय इतिहास के विविध आक्रमकों की देन है। **अचकन** जिसे मुग़लों, विशेषकर लखनऊ के नवाबों, ने परिष्कृत कर प्रायः आज का रूप दिया, वास्तव में प्रथम शती ईसवी में कुषाणों ने भारत में चलाया था। कुषाण-कालीन कुषाण-सैनिकों के वेश से यह स्पष्ट है। मथुरा-संग्रहालय में प्रदर्शित स्वयं कुषाण नरेश कनिष्क की मूर्ति के वसन से यह प्रमाणित है। यही अंगरखा या अचकन मध्य-एशियाई 'चोग़ा' है जो रोमन 'टोगा' का भाषा तथा आकार में रूपांतर मात्र है। भारतीय कुरता उस हिंदू-ग्रीक संपर्क का फल है जो ग्रीक-विजेताओं ने अपने प्रायः दो सदियों के शासन में भारत को दिया था। ग्रीक कुरते को 'ट्यूनिक' कहते थे। दोनों की आकृति में अंतर नहीं के बराबर था। 'कुरता' शब्द की व्युत्पत्ति करनी आज असंभव है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इसका संबंध किसी विदेशी भाषा से है और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, किसी से इसकी अभि-सृष्टि नहीं स्थापित की जा सकती। पाजामा भी, जिसका आधुनिक रूप मुसलमानों ने भारत में सँवारा, उन्हीं कुषाणों की देन है। इसका पुराना रूप कुछ सूथन कुछ सलवार का मिला-जुला है। पगड़ी का कोई न कोई रूप सारे मध्य-एशिया में प्रचलित रहा, आर्य उसके एक रूप को भारत में ले आये। ईरानियों के अपनी पगड़ी उतार और उसका फेटा गले में डाल अपने विजयी की अभ्यर्थना करने की बात कालिदास ने भी कही है। वर्तमान **गांधी-टोपी** कुछ तो मध्यकालीन पुर्तगालियों की टोपियों के अनुरूप बनी है पर विशेषकर उन प्राचीन मिस्रियों और खत्तियों की टोपियों के नमूने पर जिन्होंने कभी भारत के पश्चिमी तट से व्यापार किया था। निश्चित है कि भारतीय आभूषण-क्षेत्र में नारियों की **नथ** और कान की उपरली **बालियों** का प्रवेश मुसलमानों ने कराया। न तो संस्कृत भाषा में इनके लिए कोई शब्द है और न मूर्तिशिल्प में इनका कहीं व्यवहार हुआ है। वस्तुतः इनका संबंध अरबी के 'नाक़िल' से है जिससे हिंदी या उर्दू 'नकेल' बनता है। नकेल वह रस्सी है जिससे मनुष्य अपने पशु की नाक नाथकर उसे ले चलता है। यह मानव-प्रभुता का प्रतीक है। पुरुष ने नारी को भी संभवतः अपनी इसी प्रभुता के प्रमाणस्वरूप इसे पहना रखा है। आज यह विदेशी नथ हिंदू वैवाहिक जीवन में अनेक स्थानों में सुहाग का चिह्न है?

आश्चर्य की बात है कि **रोटी** के लिए कोई भारतीय शब्द हमारे पास नहीं है। रोटी शब्द न संस्कृत है, न प्राकृत, न अपभ्रंश और न इनसे बना कोई तद्भव ही है। इसी

रूप में यह शब्द भारत की सारी प्रांतीय भाषाओं में—हिंदी, उर्दू, पंजाबी, पश्तो, कश्मीरी, पहाड़ी, सिंधी, उड़िया, बंगला, असमिया, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तामिल, तेलुगू, मलयालम, आदि—में व्यवहृत होता है। निस्संदेह मुस्लिम शासन के युग में कभी इस प्रकार की रोटी खानी भारत ने सीखी जैसी तवे पर बनायी जाती है। तवे के लिए भी कोई भारतीय शब्द नहीं है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि इतने घरेलू शब्द जिनका नित्यप्रति घर की चारदीवारी में व्यवहार होता है और जिनका करोड़ों भारतीय दिन में अनेक बार उच्चारण करते हैं, भारतीय नहीं हैं, विदेशी हैं। संस्कृतियों के अंतरावलंबन का यह एक अद्भुत प्रमाण है। चौके का पावन क्षेत्र भी इन विदेशी शब्दों का वर्जन न कर सका।

भारत के ज्योतिष, ललित कलाओं आदि पर विदेशी प्रभाव अत्यंत गहरा पड़ा है इसे अनेक ईमानदार विद्वान् स्वीकार करते हैं। गणित का वह आश्चर्य—**ग्रहण**—संभवतः बाबुली है। वैदिक साहित्य में उस रहस्य का पहला जानकार अत्रि कहा गया है। संभव है वही उसका शोधकर्ता रहा हो और भारत से ही यह गणित-विद्या बाहर पहुँची हो। गणित में भारतीय चरम सीमा तक पहुँच गये थे और उन्होंने दूर-दूर के देशों को सिखाया था, यह साधारणतया मान्य है, यद्यपि उसका विकास इस स्तर तक इतने प्राचीन काल में हो गया था यह मानने में अनेक लोगों को आपत्ति हो सकती है, जब हम यह देखते हैं कि तीसरी शती ई० पू० तक अभी **दहाई** का व्यवहार संभवतः अज्ञात था। अशोक के एक शिलालेख में २५६ इस प्रकार लिखा मिलता है—२०० ५० ६। इसके विरुद्ध बाबुल में फलित ज्योतिष का प्रचार और प्रभाव अत्यधिक था। कम से कम तात्कालिक सभ्यताओं में कोई ऐसी न थी जहाँ फलित ज्योतिष का इतना व्यवहार था और जो बाबुल की इस विद्या की ऋणी न थी। ऐसे देश को गणित-ज्योतिष का भी कुछ प्रारंभिक श्रेय देना अयुक्तियुक्त नहीं जब ग्रहण की व्यवस्था वहाँ भी पुरानी है। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि फलित और गणित ज्योतिष के पाये भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर अवलंबित हैं, फिर भी उनकी समता और पारस्परिक सन्निकटता में संदेह नहीं किया जा सकता।

बाख्त्री-ग्रीक राजाओं ने भी भारत में दूसरी सदी ई० पू० से पहली सदी ई० पू० तक प्रायः दो सदियों तक राज किया। और उन्होंने ज्योतिष, कला, साहित्य, दर्शन सबको प्रभावित किया। उनका राशिचक्र आज भारतीय ज्योतिषी सर्वथा अपना कहकर स्वीकार करते हैं। भारतीय ज्योतिष का '**होड़ाचक्र**' ग्रीक '**हारस्कोप**' (अंग्रेजी hour ग्रीक पूर्व-पर्याय से बना है) का रूपांतर है। करोड़ों भारतीय जन्मपत्र के अंध-विश्वास के शिकार हैं, उसकी रचना और फल-गणना नित्य की वस्तु है, परंतु उसका आधार अभारतीय है इसे मानने में विद्वान् तो कम से कम संकोच नहीं करता। प्राचीन

भारतीय ज्योतिषियों ने **'पौलिश'** और **रोमक** दो ज्योतिष-सिद्धांतों को स्पष्टतया अभारतीय कहकर अंगीकार किया। प्राचीन आदर्शों के प्रतिनिधि-पोषक तथा संस्कृत साहित्य के सबसे समर्थ कवि कालिदास ने अपनी इष्टदेवी उमा का शिव से विवाह **'जामित्र'** लग्न में कराया है (देखिए कुमारसंभव सातवाँ सर्ग)। और यह जामित्र शब्द निस्संदेह ग्रीकों का **'डायामेट्रान्'** (Diametron) है।

इसी प्रकार भारतीय **कला** का भी शुद्ध निखार ग्रीक प्रभाव का परिणाम है। मोहेन-जो-देड़ो की सैंधव सभ्यता निश्चय उन्नत कला की जननी थी। तत्कालीन किन-किन सभ्यताओं की कला ने उसकी कला को आकृति प्रदान की थी अथवा उसकी कला ने स्वयं किन-किन विदेशी कलाओं में प्राण फूँके थे, यह तो कहना अत्यत कठिन है, परंतु इतना सही है कि उसके अनतर भारत में प्रतिष्ठित होनेवाली आर्य-सभ्यता एक लंबे काल तक कला के क्षेत्र में सर्वथा वंध्या रही। प्रायः दो हजार वर्षों तक का उनका जीवन तक्षण, चित्रण आदि कलाओं से नितान्त अनभिज्ञ रहा। पहला वास्तविक कला संबंधी प्रस्फुटन मौर्यकाल अर्थात् तीसरी शती ई० पू० में होता है। तक्षण-कला, मूर्ति के कोरने, पत्थर की भूमि को चिकनी आदि करने में अशोक का युग स्तुत्य है। भारी, अभिन्न, सुचिक्कण स्तंभों का निर्माण अशोक की विशिष्ट देन है। परन्तु वास्तव में क्या यह देन उसकी है ?

कला में व्यक्ति का स्थान अवश्य है, परंतु उसके पात्रिक संपादन मात्र में, स्रोतीय विकास में उतना नहीं। कला विकास की ही पराकाष्ठा होती है और अशोक-कालीन कला पराकाष्ठा है, आरंभ नहीं। परंतु इस विकास का प्रवाह केवल अलक्षित ही नहीं अघटित भी है। इस अशोकयुगीय कला का संबंध यदि सैंधव सभ्यता से जोड़ा जा सकता तो उसी आधार से विकसित इसे मानने में कोई असुविधा अथवा आपत्ति न होती, परंतु दोनों के बीच जो यह दो सहस्र वर्षों का अंतर है वह कला की दृष्टि से सर्वथा अनुर्वर है। विकास की एक मंजिल का भी वहाँ अस्तित्व नहीं। इसके विरुद्ध दूसरी ओर प्रमाण यह है कि आसुरी (अस्सीरी) कला का स्रोत जो दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के लगभग फूटा था और जो उन्नीसवीं सदी ई० पू० में हम्मुराबी के साम्राज्यवादी शासन में प्रभूत बल पकड़ चुका था उसकी पराकाष्ठा वस्तुतः असुर-नृपति **नेबूचदनिज्जार** और ईरानी सम्राट् **दारयवौष्** (दारा, डेरियस) के काल में प्रायः ६ठी शती ई० पू० में हुई। चिकने स्तंभों पर सपक्ष सिंहों का आकार-सृजन पाश्चात्कालिक असुरों की, और साँड प्रभृति आकृति-मंडित स्तंभों का निर्माण साम्राज्यकालीन ईरानी कला की विशेषताएँ थीं जो अशोक के शीघ्र पूर्ववर्ती थे। कुछ आश्चर्य नहीं यदि अशोक ने स्तंभ-निर्माण की कला ईरानियों से पायी हो। इसे हम नहीं भूल सकते कि उससे पहले का एक भी स्तंभ भारत में नहीं मिला। और यह भी विचारणीय है कि शिला तथा स्तंभों पर

अभिलेख और उनमें 'देवताओं का राजा ऐसा कहता है' कि शैली सर्वथा ईरानी है।

अशोक के शासन के कुछ ही दिनों बाद मौर्यसाम्राज्य के प्रांत बिखर गये जिनके उत्तर-पश्चिमी भागों पर, सीमाप्रांत से काबुल तक, ग्रीकों की प्रभुता फैली। इनके बड़े-बड़े नगर खड़े हुए जहाँ इनके शिल्पियों ने प्रभूत प्रयत्न से वास्तुकला का विस्तार किया, अद्भुत ग्रीक-शैली की मूर्तियाँ कोरीं। भारतीय मूर्ति-कला में प्रसिद्ध **गांधार-शैली** इसी ग्रीक-प्रयास का परिणाम है। हजारों ग्रीक-आकृति की मूर्तियाँ जो आज अफगानिस्तान, सीमाप्रांत, पंजाब आदि में पायी गयी हैं, और काबुल, पेशावर, लाहौर, मथुरा, आदि के संग्रहालयों में संरक्षित हैं, इसी ग्रीक-छेनी का महत्व प्रदर्शित करतीं हैं। इसी प्रकार सिक्के ढालने की प्रणाली में भी ग्रीकों ने अद्भुत परिवर्तन किये। वास्तव में प्राचीन काल के विभिन्न देशों के सिक्कों का अध्ययन इतिहास के इस निष्कर्ष को और भी प्रमाणित करता है। तीन-तीन, चार-चार सदियों में जातियों के संक्रमण और मिश्रण तथा विजेताओं के परिवर्तन से सिक्कों के क्षेत्र में अद्भुत और समान परिवर्तन होता गया है। कई बार तो ऐसा जान पड़ता है कि कुछ-कुछ अंतर पर संसार के सारे देशों के सिक्के समान रूप रखते हैं—आकार में, वजन में, ढलाव में, अभिलेख में, उन पर मुद्रित आकृतियों में। प्रमाणतः यह संस्कृतियों के अंतरावलंबन का परिणाम है।

इसी प्रकार भारतीय **ड्रामा** (नाटक) पर भी ग्रीक-प्रभाव पड़ा। संभव भी न था कि ऐसा न हो जब भारत में यूथिदेमिया और दत्तामित्रिय जैसे ग्रीक-नगर थे, शाकल तथा पत्तलीनी में ग्रीक-नागरिकों के प्रशस्त मुहल्ले थे। भारतीय रंगमंच पर संभवतः ड्राप अथवा पर्दे का अभाव ही था। इस ग्रीक-संपर्क से ही शायद यहाँ इसका व्यवहार हुआ। इसी से ड्राप-पर्दे को **'यवनिका'** कहते भी हैं जो उसका ग्रीक मूल उद्घोषित करता है। यवन तब ग्रीकों को कहते थे ; आयोनिया की गणना तब ग्रीक देशों में ही थी।

धर्म के क्षेत्र में तो और भी अधिक समानताएँ दिखायी जा सकती हैं। समान देवता समान रूप से संसार में पूजे गये हैं। 'टोटेमिज्म' देश-विशेष की पद्धति कभी नहीं रही। प्रायः प्रत्येक देश के प्राचीन निवासियों ने अपने अंगों को विविध प्रकार से चित्रित किया, पशुओं-वृक्षों अथवा पर्वतों-नदियों-निर्झरों की पूजा (पेगनिज्म) साधारणतया प्रत्येक धर्म का आधार रही है। सारे मध्य एशिया में, संभवतः दक्षिणी यूरोप के देशों में भी, पूर्व में सिंधु तक कभी मातृदेवी की पूजा किसी न किसी रूप में होती थी। प्रकृति के देवताओं को भी आर्यों की ही भाँति अन्य जातियों ने भी पूजा है, पश्चिमी एशिया के हत्ती और मितनियों तक ने। भारत में विष्णु अथवा आकाश के प्रकृत सूर्य की पूजा तो निस्संदेह आर्यों ने प्रचलित की परंतु उसे मूर्ति बनाकर शकों और कुषाणों ने ही यहाँ पूजा। कुषाण-कालीन सूर्य की मूर्तियों का (उस युग से पूर्व की सूर्य-प्रतिमाएँ भारत

में नहीं मिलतीं) पहनावा मध्य-एशियाई है—चोगा, सलवार, ऊँचे घुटनों तक जूते, बगल में कटार। स्पष्ट है कि भारत में सूर्य की मूर्ति-रूप में पूजा शकों ने चलायी और जब यहाँ के ब्राह्मण उसकी पूजा न करा सके तो शक-पुरोहितों को भारत में बुलाना पड़ा। पुराणों के अनुसार कृष्णवंशीय शांब ने सूर्य का पहला मंदिर बनवाया और वह सिंधु देश में। सिंधु देश अब का सिंध है जिसकी प्राचीनकालिक संज्ञा 'शकद्वीप' थी और जो भारत में प्रविष्ट होने पर शकों का पहला औपनिवेशिक आधार बना। आसुरी महाकाव्य 'गिल्गेमिश' का जलप्लावन हिब्रू के ओल्ड टेस्टामेण्ट और मनुस्मृति में समान रूप से वर्णित है। मनु जीवों के जोड़ों को उसी तत्परता से बचाते हैं जिससे नूह अपनी नाव में ; और भारतीय मनु-संतान उस जल-प्रलय को भारतीय अनुवृत्त समझती है जब कि डाक्टर लियनार्ड वूली ने प्राचीन अस्सीरी और बाबुली भूमि को उलटकर उस जल-प्रलय का वास्तविक स्थल कहाँ था यह तक प्रमाणित कर दिया है! आसुरी गिल्गेमिश में अशुर सूखे-अकाल के दैत्य तियामत-अप्सू को वज्र मारकर उनको जल मुक्त करने को बाध्य करता है, ऋग्वेद में उसी प्रकार इंद्र सूखे के दैत्य वृत्र को मारकर जल को मुक्त करता है। इंद्र का विरुद वहाँ 'असुर' है और अप्सू की ही भाँति वृत्र भी गुंजलक मारनेवाला सर्प है।

अनेक देशों का मातृ-सत्ताक अवस्था से पितृ-सत्ताक में परिवर्तन भी इसी सांस्कृतिक एकता को स्थापित करता है। प्रायः सभी ने दास-प्रथा का किसी न किसी रूप में लाभ उठाया, और सभी सामंत-युगीय व्यवस्था से गुजरे। प्रायः सभी ने नारी को अधोऽधः गिराते हुए उसे निःस्वत्व कर दिया और उसे दासों की श्रेणी में रखा। आर्य-जातियों में यह क्रम विशेष प्रकार से विकसित हुआ। आज जो प्रायः एक ही प्रकार से राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि संस्थाओं का विभिन्न देशों में विकास हुआ है और हो रहा है वह भी इसी सांस्कृतिक अंतरावलंबन तथा आदान-प्रदान को प्रमाणित करता है।

२.

अब नीचे कुछ अत्यंत रोचक और नवीन प्रमाणों तथा उदाहरणों का उल्लेख करेंगे जिनसे इस सांस्कृतिक अंतरावलंबन के सैद्धांतिक सत्य को पुष्टि मिलेगी।

अन्य साधारण कारणों के साथ-साथ जिस मुख्य विशेषता को बताकर आर्य और सेमिटिक जातियों में अंतर निकाला जाता है वह है वैवाहिक। यदि विद्वान् पुराविद् से दोनों में एक पद में अंतर पूछा जाय तो शायद वह कहेगा—**सगोत्र और असगोत्र विवाह**। इसलिए कि पिता के धन में भाग पाकर कन्या पैतृक सम्पत्ति का विभाजन न करा दे, मिस्र और उसकी देखादेखी अरब में 'सेमिटिक' जाति के लोग उसे अपने भाइयों से ही ब्याहने लगे। अरबों ने तो अपनी कन्याओं को कुछ काल

तक जीने भी न दिया। मिस्रियों में यह प्रथा इतनी स्वाभाविक थी कि जब सिकंदर के सेनापति तालमी ने मिस्र में अपना राज्य स्थापित किया तब देशी भावुकता को प्रसन्न करने के लिए उसे अपने ग्रीक-कुल में भी वही भ्राता-भगिनी-विवाह की मिस्री प्रथा स्वीकार करनी पड़ी और सारे तालेमी राजा अपनी भगिनियों से विवाह करते गये। इतिहास-विख्यात **क्लियोपेट्रा** को एक के बाद दूसरे अपने सगे भाइयों से विवाह करना पड़ा था। अरब में भी इस प्रथा ने जड़ पकड़ी, परंतु मुहम्मद ने उसमें सुधार किया और समान-स्तनपायी भाई-बहनों में विवाह-संस्कार वर्जित कर दिया। आर्यों में, विशेषकर भारतीय आर्यों में कालांतर में **असगोत्र विवाह** की प्रथा जन्मी, पर केवल कालांतर में। ऋग्वैदिक काल से पूर्व उनमें भी भ्राता-भगिनी-विवाह व्यवस्था-सम्मत माना जाता था। पुराणों के आधार पर इस प्रकार के आर्य-विवाहों के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो कम से कम दो दर्जन हैं। परंतु यह संख्या जिस छोटे आधार से एकत्रित की गयी है उस अनुपात से अत्यंत अधिक है जो इस प्रकार के विवाहों की प्रायः स्वाभाविकता स्थापित कर देती है। स्वयं ऋग्वेद के यम-यमी-संवाद से इस प्रकार के विवाह की स्वाभाविकता प्रमाणित है और विशेषकर जुड़वें भाई-बहन का परस्पर विवाह तो जैसे सिद्ध प्रश्न था। इतना अवश्य है कि तत्कालीन आर्यों में इस प्रकार के विवाह की नैतिकता में संदेह किया जाने लगा था, क्योंकि यम इस प्राचीन पद्धति में अरुचि प्रदर्शित करता है और उसके अनाचार को धिक्कारता है। फिर भी उस परंपरा का सर्वथा अनस्तित्व न हो सका। आर्य-व्यवस्था को अपनाने की प्रवृत्ति रखनेवाले कृष्ण ने जिस रुक्मिन् की भगिनी रुक्मिणी से विवाह किया था उसी की कन्या से उसके पुत्र ने अपना विवाह किया। छठी शती ई० पू० में इस प्रकार के विवाह अनेक बार हुए। शाक्यों में यह साधारण पद्धति थी। गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोदन ने जिस कुल की पुत्रियों से अपना विवाह किया उसी में स्वयं गौतम ने अपना किया। आज भी दाक्षिणात्यों में 'मातुल-कन्या-विवाह' अनेकार्थ में प्रचलित है।

नीचे की तालिका पुराणों और वैदिक साहित्य की सामग्री से प्रस्तुत की गयी है। इसमें 'पितृकन्या' पद का प्रयोग यह और भी स्पष्टतया सिद्ध करता है कि कन्या पिता की ही थी, चचा आदि की नहीं। इसका प्रयोग शास्त्रीय और व्यावहारिक (कानूनी) पद्धति से हुआ है। इस संबंध में एक बात यह न भूलनी चाहिए कि पौराणिक अनुवृत्त अनेकांश में प्रागृग्वैदिक है। उदाहरणतः त्रसदस्यु-पुरुकुत्स और ययाति ऋग्वेद में भी प्राचीन माने गये हैं और उनकी उदारता की गाथाएँ ऋग्वेद में गायी गयी हैं, परंतु पौराणिक वंश-तालिकाएँ उनसे कई पीढ़ियों पूर्व से आरंभ होती हैं। स्वयं यम का स्थान उनमें पहला नहीं है, कई पीढ़ियों पश्चात् है। जिन उदाहरणों का उल्लेख नीचे किया जाता है उनमें कुछ अपवादों को छोड़कर, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शेष सारे सगे

भाई-बहनों के विवाह से संबंध रखते हैं, और जो अपवाद हैं स्वयं वे भी कम से कम सौतेले, या सगे चचेरे भाई-बहिनों के हैं।

(१) वेण के पिता अंग ने अपनी पितृ-कन्या सुनीता से विवाह किया।

(२) विप्रचित्ति ने अपने पिता कश्यप की कन्या सिंहिका को ब्याहा।

(३) अंग और सुनीता के पीछे दसवीं पीढ़ी में यम और यमी आते हैं, क्योंकि ये विवस्वान् की संतान हैं और विवस्वान् विप्रचित्ति और सिंहिका का सौतेला भाई है।

(४) विवस्वान् के दूसरे पुत्र मनु ने श्रद्धा से विवाह किया, और श्रद्धा महाभारत में विवस्वान् की कन्या कही गयी है।

(५) नहुष-ऐल ने अपनी पितृ-कन्या विरजा को ब्याहा। यह विरजा ऋग्वेद और पुराणों के यशस्वी नृपति ययाति की माता हुई।

(६) अमावसु-ऐल की पत्नी उसकी पितृ-कन्या अच्छोदा हुई।

(७) ययाति के श्वशुर शुक्र-उशनस् ने अपनी पितृ-कन्या गा को ब्याहा।

(८) देवयानी की अग्रजा देवी ने वरुण को ब्याहा जो शुक्र-उशनस् का दूसरा वंशज होने के नाते देवी का सगा, सौतेला या चचेरा भाई रहा होगा।

(९) अंगिरस्-कुलीय भरत ने अपनी तीनों भगिनियों को ब्याहा।

(१०) सम्हताश्व की कन्या हैमवती-दृषद्वती ने अपने पिता के दोनों पुत्रों, कृशाश्व और अजयाश्व, से विवाह किया।

(११) मान्धातृ-पुत्र पुरुकुत्स ने अपनी पितृ-कन्या नर्मदा को ब्याहा।

(१२) सगर के पौत्र अंशुमत् ने अपनी पितृ-कन्या यशोदा को ब्याहा।

(१३) दशरथ की रानी कौशल्या अपने पति की पितृकुलीया, संभवतः चचेरी बहिन थी।

(१४) **दशरथ-जातक** से ज्ञात होता है कि राम और सीता भाई-बहिन थे। क्या **'जनक-दुहिता'** का अर्थ **'पितृ-कन्या'** हो सकता है?

इसी काल में संभवतः यह **'पितृ-कन्या-विवाह'** की परिपाटी बंद हो गयी। राम ऋग्वैदिक व्यक्ति थे और यम-यमी के संवाद से जान पड़ता है कि तभी से भ्राता-भगिनी-विवाह बुरा माना जाने लगा। इस युग में भारतीय आर्य आचार के नये विधान बनाने लग गये थे। जान पड़ता है, ऋग्वैदिक समाज ने अब इस प्रथा के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, क्योंकि राम के बाद प्रायः २७ पीढ़ियों तक पौराणिक अनुवृत्तों में एक भी पितृ-कन्या-विवाह का उदाहरण नहीं मिलता। परंतु यह परंपरा फिर भी मर न सकी और महाभारत-काल में एक बार फिर जी उठी।

(१५) कृष्ण-द्वैपायन-व्यास के पुत्र शुक ने अपनी पितृ-कन्या पीवरी को ब्याहा।

(१६) पांचालों के राजा द्रपद ने भी अपनी भगिनी को व्याहा।

(१७) सत्राजित् ने अपनी दस बहिनों के साथ विवाह किया।

(१८) सात्वत ने सात्वती को ब्याहा जो उसकी भगिनी जान पड़ती है।

(१९) शृंजय के पुत्र ने शृंजय की दो कन्याओं के साथ ब्याह किया।

(२०) सात्वत के प्रपितामह ने एक ऐक्ष्वाकी (अपने ही कुल की) को ब्याहा।

(२१) इस विवाह से उत्पन्न पुत्र ने एक अन्य ऐक्ष्वाकी (कौशल्या) को ब्याहा।

इस काल के बाद पौराणिक अनुवृत्त में फिर इस प्रकार के वर्णन नहीं आते। संभव है, कुछ अंशों और क्षेत्रों में इस परंपरा का सुधार हो गया हो। परंतु प्रमाणतः इसका उच्छेद न हो सका। बौद्ध अनुश्रुतियों में अनेक उदाहरण इस निष्कर्ष को पुष्ट करते हैं। दशरथ-जातक में आये राम-सीता के संबंध का हवाला ऊपर दिया जा चुका है।

(२२) कृष्ण के जरायुज (जुड़वें) भाई ने विपितृ से उत्पन्न अपनी ही माँ की कन्या को ब्याहा।

(२३) काशी के उदयभद्र ने अपनी सौतेली बहिन उदयभद्रा को ब्याहा।

(२४) बुद्ध ने अपनी माता की भतीजी गोपा से ब्याह किया, यह ऊपर कहा जा चुका है।

(२५) कोशलराज प्रसेनजित् के पिता महाकोशल ने अपनी पुत्री कोशल-देवी का ब्याह मगधाधिप बिंबिसार से किया और उसके पुत्र प्रसेनजित् की कन्या वजिरा का ब्याह बिंबिसार के पुत्र अजातशत्रु से हुआ।

ऊपर के उदाहरणों से सिद्ध है कि भ्राता-भगिनी-विवाह प्रागृग्वैदिक काल से बुद्ध-युग तक बराबर आर्य आचार की व्यवस्थित और मान्य पद्धति रही है। इसी कारण जब यमी यम को चुनौती देती हुई उसे उस प्राचीन परंपरा की याद दिलाती है—**गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेदनावस्य पृथिवी उतद्यौः।** (ऋ०, १०।१०।५)—तब वह सहमकर झल्ला उठता है। और जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह परंपरा अभी सर्वथा लुप्त न हो सकी, किसी न किसी रूप में दक्षिण में यह अभी तक विद्यमान है। अतः यह कहना कि आर्यों और सेमिटिक जातियों में विभेदक विशेषता सगोत्र और असगोत्र विवाह है, नितांत असिद्ध है। इससे एक विशिष्ट बात यह सिद्ध होती है कि सामाजिक पद्धतियों और आचारों पर संस्कृतियों अथवा जातियों का विभाजन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे बराबर एक जाति से दूसरी जाति द्वारा सीखे और बर्ते जाते रहे हैं। इन उदाहरणों के महत्वपूर्ण प्रमाण से भी संस्कृतियों का अंतरावलंबन ही प्रमाणित होता है।[1]

---

१ सुविस्तृत निर्देश के लिए देखिए मेरा ग्रंथ, वीमेन इन ऋग्वेद, पृ० १७-१२८—लेखक।

इससे भी कहीं अधिक टिकाऊ और अकाट्य सांस्कृतिक आंतरावलंबन का प्रमाण नीचे दिया जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऋग्वेद और भारतीय सम्मिश्रण के साथ अथर्ववेद सर्वथा आर्य ग्रंथ माने जाते हैं। परतु १९४२ ई० में मुझे कुछ ऐसे प्रमाण मिले जिनसे यह सिद्ध हो गया कि अनेकांश में अथर्ववेद अनार्य प्रमाणित किया जा सकता है। कम से कम उसमें (और ऋग्वेद में भी) अनेक ऐसे स्थल हैं जो 'अनार्य' हैं और जिनका अर्थ अन्य आर्येतर भाषाओं तथा इतिहासों के अध्ययन से ही लगाया जा सकता है। इनमें से हम केवल कुछ महत्त्वपूर्ण मंत्रों का प्रमाणतः उदाहरण देंगे। मंत्र इस प्रकार हैं :—

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
सात्रासाहस्याहं मन्योरवज्यामिव धन्वनो विमुञ्चामि रथीं इव ॥६॥
आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्धवरसाः किं करिष्यथ ॥७॥
उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥८॥
तावुवं न तावुवं न वेत्त्वमसि तावुवम्।
तावुवेनारसं विषम् ॥१०॥ अथर्व वेद, ५।१३

सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर अभिनंदन-ग्रंथ में श्री बाल गंगाधर तिलक ने अपने लेख केल्डीयन एंड इंडियन वेदज़ (खल्दी और भारतीय वेद) में पहले-पहल विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। फिर मैंने श्री वासुदेवशरण अग्रवाल का, जो अलाय-बलाय की व्युत्पत्ति के लिए कुछ दिनों से जागरूक थे, ध्यान इस ओर आकर्षित किया और उन्हें वह सब सामग्री दी जिसका उपयोग उन्होंने अपने 'अलाय-बलाय' नामक लेख में किया। यह लेख नागरी-प्रचारिणी पत्रिका के संवत् १९९९ के कार्तिक-माघ वाले अंक के पृष्ठ २९९-३०४ पर छपा है।[1]

इन मंत्रों का अर्थ ब्लूमफ़ील्ड के आधार पर श्री तिलक ने इस प्रकार दिया है—

"जिस प्रकार धनुष से ज्या ढीली की जाती है, अश्वों से रथ विलग किया जाता है, मैं तुम्हें काले-भूरे सर्प तैमात और सर्वविजयी अपोदक विष से मुक्त करता हूँ।६।

"आलिगी और विलिगी, पिता और माता, तुम्हारे सारे बंधुओं को हम जानते हैं। विष-विहीन भला तुम क्या कर सकोगे। ७।

१—कुछ दिन हुए श्री रामचंद्र टंडन ने मेरा ध्यान इस लेख की ओर आकर्षित किया। मुझे उसमें अपना नाम न देख कुछ आश्चर्य हुआ। विद्वान् लेखक के स्मृति-भ्रम से ही संभवतः ऐसा हुआ—लेखक।

"करैत (काले) के साथ उत्पन्न (है) यह **उरुगूला की दुहिता**—उन सबका विष शक्तिहीन हो गया है जो अपने आश्रय को भाग गये हैं। ८।

"**तावुवं** (अथवा) न **तावुवं** (हे सर्प) तू तावुवं नहीं है। तावुवं द्वारा तेरा विष व्यर्थ कर दिया गया है। १०।"

स्वयं तिलक ने **तैमात, आलिगी, विलिगी, उरुगूला**, और **तावुवम्** पर प्रकाश डाला है। इन सबको उन्होंने अवैदिक अक्कादी (ख़ल्दी) शब्द माना है। **तैमात**, उनके विचार से तियामत है, और **तावुवम्** 'तोवा'। इनमें से **आलिगी, विलिगी** और **उरुगूला** का अर्थ तिलक भी नहीं लगा सके हैं, यद्यपि यह उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत में नहीं हो सकती, ये अवैदिक हैं और इनका संबंध भी संभवतः ख़ल्दी आदि भाषाओं से है। यहाँ अस्सीरी पुरातत्व का अनुशीलन करते हुए जो सामग्री मुझे मिली है नीचे उसका उपयोग होगा जिससे यह प्रमाणित हो जायेगा कि ये शब्द अस्सीरी हैं और इनका अर्थ अथर्ववेद का भारतीय मंत्रकार स्वयं नहीं जानता, यद्यपि वह इनका प्रयोग करता है।

परन्तु इनकी व्युत्पत्ति अथवा अर्थ करने के पूर्व इनका नैरुक्तिक इतिहास जान लेना कुछ कम रुचिकर शायद न होगा। **आलिगी, विलिगी तैमात** आदि का अर्थ करते हुए 'वैदिक इंडेक्स' के ग्रंथकारों—मैक्डानेल और कीथ—ने **आलिगी** का अर्थ **विलिगी, विलिगा** का आलिगी और **तैमात** का दोनों करके अद्भुत अन्योन्याश्रयन्याय का वितन्वन किया है। ब्लूमफ़ील्ड, ह्विटनी, ग्रिफ़िथ, आदि ने इन शब्दों का अथ तो किया है पर केवल शाब्दिक। उन्हें स्पष्ट करने का उन्होंने निश्चय कोई प्रयत्न नहीं किया। प्रमाणतः रहस्योद्घाटन इनकी शक्ति और तत्सामयिक पुरातात्विक ज्ञान से परे था। इन शब्दों में से **तैमात** का प्रयोग अथर्ववेद ५। १८। ४ में फिर एक बार हुआ है, परंतु **आलिगी, विलिगी** और **उरुगूला** फिर कभी प्रयुक्त नहीं हुए। इनका प्रयोग पश्चात्कालीन साहित्य—**काशिका सूत्र**—में हुआ है, परंतु इनके मूल का विवेचन वहाँ भी नहीं किया गया है। वहाँ का प्रसंग अवश्य सर्पविष-विमोचन है। मैक्डानेल और कीथ की ही भाँति ग्रिफ़िथ ने भी **तैमात, अपोदक, आलिगी, विलिगी** और **उरुगूला** को साँपों की अज्ञात जातियाँ कहीं हैं। निरुक्त-निघंटु में इनको निरर्थक शब्द कहा गया है। ख़ल्दी खोजों के अनुसार **तियामत** जल का दैत्य है जो ख़ल्दी सृष्टिपरक अनुश्रुतियों में कभी पुरुष कभी नारी माना गया है। **अपोदक**, जो एक प्रकार का स्थल-सर्प है, **तियामत** के साथ-साथ ही व्यवहृत हुआ है। **तियामत** और **मारदुक** का युद्ध अनेक 'कीली' (क्यूनीफ़ार्म) अभिलेखों का विषय है। तिलक के विचार से **उरुगूला** का व्युत्पत्तिक अर्थ 'विशाल नगर' (उरु = नगर, गुल = विशाल) है और भावार्थ पाताल है। वेबर ने इस शब्द को प्राकृत **रूख** अथवा संस्कृत **वृक्ष** से

बना मान जंगल का अर्थ निकाला है। परंतु प्रमाणतः तिलक और वेबर दोनों ग़लत हैं। हम यथास्थान इनका अर्थ करेंगे।

तिलक लिखते हैं—"**आलिगी** और **विलिगी** का मूल मैं स्थापित न कर सका, परंतु संभवतः ये **अक्कादी** शब्द हैं क्योंकि एक अस्सीरी देवता का नाम **बिल** और **बिल-गी** है। कुछ भी हो, इसमें कोई संदेह नहीं कि **तैमात** और **उरुगूला**, कुछ अंतर होते हुए भी, वास्तव में अक्कादी अनुश्रुतियों के **तियामत** और **उरुगुल** अथवा **उरुगूला** हैं और वैदिकों ने अपने खल्दी पड़ोसियों अथवा सौदागरों से इनको लिया होगा।" (पृ० ३५)

इसी प्रकार श्री तिलक की राय में **ताबुवम्** पोलिनेशियन शब्द ताबू—अपावन—से बना है। स्पष्टतः यह वही शब्द है जिससे अरबी 'तोबा' बनता है। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, श्री तिलक की **तैमात** और **ताबुवम्** की व्याख्या सही है परंतु **आलिगी**, **विलिगी** तथा **उरुगूला** का अर्थ वे नहीं लगा सके, यद्यपि उनके अभारतीय मूल का उन्होंने सही पता लगा लिया था। यह विश्वास किया जा सकता है कि यदि वे जीवित होते तो संभवतः इनका अर्थ वे वही करते जो नीचे किया गया है, क्योंकि इनका आधार भी अस्सीरी पुरातात्विक खोजें हैं जिनका हवाला उन्होंने अपने लेख में दिया है। ये खोजें वस्तुतः उनकी मृत्यु के पश्चात् की जा सकीं और वे इनका उपयोग न कर सके। डाक्टर लियनार्ड वूली ने आज से प्रायः पंद्रह वर्ष पूर्व ही वह पट्टिका निकाल डाली थी जिन पर **आलिगी, विलिगी, एलूलू, बेलूलू** आदि अभिलिखित थे, परंतु अस्सीरी विद्वानों को इन अथर्व-वेदीय मंत्रों का ज्ञान न था जिनको ऊपर उद्धृत किया गया है और भारतीय विद्वान् किस प्रकार अस्सीरी खोजों के प्रति उदासीन हैं[1] यह कहने की आवश्यकता नहीं।

श्री तिलक के उठाये इस प्रसंग पर मैं प्रायः सन् '३५ से विचार कर रहा था कि सन् '४० में मुझे डा० वूली की अस्सीरी खुदाइयों से प्रसूत सामग्री का हवाला पढ़ने का सुअवसर मिला। इन्हें पढ़कर मेरी पुरानी धारणा बलवती हो उठी। सन् '३७ में डाक्टर प्राणनाथ का एक लेख—**वेद का सुमेरीय मूल**—काशी विश्वविद्यालय की **शोध-पत्रिका** में छपा था, उसे फिर पढ़ा और फिर अस्सीरी खोजों की ओर मुड़ा। धारणा सही निकली। डा० बारनेट ने बृटिश-म्यूज़ियम के सुमेरो-अस्सीरी विभागों की गाइड-स्वरूप एक पुस्तिका छापी थी। इन्हीं दिनों उसे जो उलट रहा था तो उस पट्टिका पर नजर गयी जो प्रायः ३००० ई० पू० के अस्सीरी राजाओं की वंश-तालिका थी, जो **ऊर** नामक अस्सीरी नगर से खोदकर प्राप्त की गयी थी और जिसमें **आलिगी** और **विलिगी**

१—डाक्टर प्राणनाथ को छोड़कर।—लेखक

पिता और पुत्र के रूप में अभिलिखित मिल गये, बिना एक मात्रा के अंतर के। इसी पट्टिका पर कुछ नीचे **एलूलू-बेलूलू** भी राजा के रूप में अभिलिखित मिले। पीछे देखा तो कुछ अंतर के साथ यही पट्टिका **केंब्रिज प्राचीन-इतिहास** के भाग एक में छपी मिली। स्पष्टतः वैदिक मंत्रों का ज्ञान न तो डा० वूली को था, न डा० बार्नेट को और न केंब्रिज-प्राचीन-इतिहास के उस प्रकरण के लिखनेवाले को। परंतु निस्संदेह इन शब्दों का निरूपण हो गया।

अब इन मंत्रों की स्पष्ट व्याख्या इस प्रकार होगी—उनका प्रयोग ऋषि ने सर्प-दंश झाड़ने के प्रसंग में किया है। इस प्रकार के ओझा-मंत्रों का कुछ विशेष अर्थ नहीं हुआ करता और अपने जिन असाधारण शब्दों का प्रयोग ओझा कर जाता है वे प्रायः निरर्थक होते हैं और यदि उनका कोई अर्थ होता भी है तो संभवतः वह उसे नहीं जानता, यद्यपि किसी अत्यंत प्राचीन काल में उनका प्रयोग हुआ है। उदाहरणतः युक्त-प्रांत के पूर्वी जिलों और बिहार में भूत भगाते समय ओझा जिन मंत्रों का प्रयोग करते हैं उनमें कुछ हैं—**'अकाइनि-बकाइनि पीपल पर की डाइनि।'** इनमें पीपल की डाइनि तो बोधगम्य हैं, परंतु अकाइनि-बकाइनि सर्वथा नहीं। कम से कम ओझा इनका अर्थ नहीं जानता। अथर्ववेद के अनेक मंत्रों के उदाहरण से परंतु यह स्पष्टतया दर्शाया जा सकता है कि इनका भी अर्थ है और ये दो जाति के पौधों का निर्देश करते हैं। इसी प्रकार अथर्ववैदिक ओझा भी जिन आलिगी-विलिगी-तैमात-उरुगूला आदि का प्रयोग करता है उनका वह स्वयं अर्थ तो नहीं जानता और उनका प्रयोग वह केवल अपने सुननेवालों में विस्मय का सृजन कर उनको प्रभावित करने ही के लिए करता है, परंतु उनका अर्थ है। ऊर की पट्टिका पर अभिलिखित आलिगी, विलिगी अस्सीरी राजाओं के नाम हैं जिन्होंने प्रायः ३००० ई० पू० के लगभग सुविस्तृत प्रांतों पर राज किया था। और प्राचीनता का उद्घोष करनेवाले अथर्ववैदिक ओझा ने इन शब्दों का उपयोग झाड़ने वाले मंत्रों में इन्हें डालकर किया। यद्यपि दो हजार वर्षों के बाद प्रयोग करनेवाला अथर्ववैदिक मंत्रकार इनके अर्थ को न समझ सका, परंतु अपना अर्थ उसने निस्संदेह साध लिया।

इसी प्रकार **उरुगूला** का अर्थ भी कुछ कठिन नहीं। मुझसे भी पहले जब इस शब्द का अर्थ न चला तो मैं भी वेबर की भाँति इसका व्युत्पत्तिक अर्थ करने लगा था। 'एल-इराक़' और 'नासिर-उल-दीन' के वज़न पर मैंने पहले **उरुगूल** को उरुक़ और उल में तोड़ा, फिर अचसधि के उसूल पर इनसे **उरुगूल** बनाया। तत्पश्चात् उसे स्त्रीलिंग-रूप दे **उरुगूला** बनाया और षष्ठी में विकृत कर **उरुगूलायाः दुहिता** पाठ सार्थक किया। और मेरे इस द्राविड़ी प्राणायाम में अनेक अरबी लुग़द और अरबी के विद्वानों की मदद थी। फिर भी स्वतंत्र रूप से मैं एक सही अटकल पर पहुँच गया था

कि उरुगूला का संबंध उर अथवा उरु से अवश्य है। उर की खुदाई में आलिगी-विलिगी-वाली जो पट्टिका मिली थी उससे यह पकड़ मुझे सिद्ध हो गयी थी। परंतु मैं इस व्युत्पत्ति को केवल एक 'कार्योचित-अनुमान' मानता था। डाक्टर प्राणनाथ से चर्चा करने पर मालूम हुआ कि 'गुल' असीरी भाषा में सर्प-विष-भिषज् को कहते हैं। इस अर्थ की पुष्टि फिर बज साहब के कोष ने कर दी। अर्थ प्रस्तुत हो गया और द्राविड़ी प्राणायाम से मेरा छुटकारा हुआ। उरुगूलायाः दुहिता का अर्थ हुआ—उर नगर के सर्प-विष-विशेषज्ञ की कन्या और इसका प्रयोग उस साँप का विष झाड़नेवाले मंत्र में इसलिए किया गया कि उस विष-शत्रु का नाम सुनकर सर्प अपना विष दंशित व्यक्ति के व्रण से खींच ले।

इस प्रकार अनेक भिन्न जातियों के सांकेतिक शब्दों और सांस्कृतिक आँकड़ों का प्रयोग आर्यों ने किया है। भला किसे गुमान हो सकता है कि इस प्रकार के वेदपूत मंत्रों में भी अभारतीय म्लेच्छ-शब्दों का प्रयोग हुआ होगा। इसी प्रकार ऋग्वेद और अथर्ववेद के अनेक अन्य अंशों में भी इस सांस्कृतिक अंतरावलंबन का सिद्धांत उदाहृत किया जा सकता है। कुछ स्थलों के शब्दों को लें।

हित्तीत्ती और मितन्नी संघर्ष के बाद उनके संधि-पत्र में (१४०० ई० पू०) ह्यूगो विंक्लर ने जो इंद्र-वरुण मित्र-नासत्यों के नाम पढ़े वे ऋग्वैदिक देवता हैं इसमें संदेह नहीं। इसका संकेत हम पहले कर आये हैं। अथर्ववेद १०।५ में आनेवाले कनक्नम् और तादुवा शब्द भी संभवतः तोखिनेरियन ही हैं। ऋग्वेद ७।१०४।२३ और अथर्ववेद, १।७।१ में किमीदिन् जाति के प्रेतों का हवाला है। यास्क ने जिस प्रकार ऋग्वेद के तुफरी-जुफरी आदि के साथ आलिगी-विलिगी को 'निरर्थकाःशब्दाः' कहा है उसी तर्क से इस किमीदिन् को भी किमिदानीम् (अब क्या?—६।११६) कहकर सार्थक किया है। उनका तात्पर्य यह है कि उस जाति के प्रेत 'अब-क्या? इधर-क्या? उधर-क्या?' कह-कहकर पता लगाते रहते हैं इसलिए उन्हें किमीदिन् कहा गया है। मेधा की यह अद्भुत जादूगरी है। यास्क को प्रमाणतः यह नहीं ज्ञात था कि किमीदिन् ख़ल्दी शब्द है और प्राचीन अक्कादी में एकिम्मु और गिम्म प्रेतों के अर्थ में प्रयुक्त होते थे। उन्हीं का संयुक्त प्रयोग संभवतः 'किम्म-दिम्म' है जिससे वैदिक किमीदिन् बना है। इसी प्रकार खुदा का प्राचीन ख़ल्दी नाम जेहोवा, जिसका उच्चारण यह्व होता था, वैदिक यहु, यह्व, यह्वत्, यह्वी, यह्वना आदि शब्दों में ध्वनित है। निघण्टु के अनुसार यह्व का अर्थ महान् है। यह्व का 'महान' अर्थ में प्रयोग सोम (ऋग्वेद, ६।७५।१), अग्नि (वही, ३।१।१२ और १०।११०।३) तथा इन्द्र के लिए (वही, ८।१३।२४) हुआ है। इसी प्रकार 'प्रतापी' अर्थ में असुर शब्द का प्रयोग भी ऋग्वेद में वरुण आदि इंद्र के लिए किया गया है। अस्सीरी और ख़ल्दी अनुश्रुतियों में अस्सु-

तियामत और **मर्दुक** की लड़ाई ऋग्वैदिक वृत्र-इंद्र का युद्ध है। जिस प्रकार तियामत सर्प है उसी प्रकार वृत्र भी सर्प है, उसके भी **अहिपुच्छ** है। **अशुर, मर्दुक** और इंद्र एक ही हैं। अप्सु पुरुष है, तियामत (अथर्ववेद का तैमात) उसकी नारी है। इंद्र को **अप्सुजित्, अप्सुक्षित** कहा गया है। **अप्सु** को अप् का सप्तमी बहुवचन बनाना यास्क और सायण दोनों द्वारा भाष्य की विडंबना है। अप्सु सीधा प्रथमा एकवचन है, ख़ल्दी-अस्सीरी अनुश्रुतियों का अकाल डालनेवाला दैत्य, जिस पर अशुर,मर्दुक, इंद्र सभी अपने-अपने वज्र मार जल का मोक्ष कराते हैं। उसका प्रयोग ऋग्वेद (१।६०।६; १०।११८।६; १।१५४।१ आदि) में भी 'विस्तृत' के अर्थ में हुआ है। श्री तिलक को तो **सिनीवली** भी अभारतीय जान पड़ा है। **तुर्फरीतू** (ऋग्वेद, १०।१०६।६) तो निश्चय अभारतीय है—संभवतः ख़ल्दी, क्योंकि इसका **'इतु'** ख़ल्दी में मास का अर्थ रखता है जिसका ऋतु रूपान्तर ऋग्वेद में भी मास और ऋतु के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। बाबुली तिथि-क्रम में भी भारतीय **मलमास** की भाँति **'बीजवपन के तममास' (=मलमास)** —तेरहवें महीने—का उल्लेख है। **गिल्गेमिश** और **इश्तर** की अनुश्रुतियों के अनुसार सूर्य त्वचारोग से पीड़ित होकर वर्ष में कुछ काल तक अव्यक्त रहता है। ऋग्वैदिक जनविश्वास से इसकी अद्भुत समता है। वहाँ (ऋ० ७।१००।६) भी **विष्णु** (=सूर्य) **शिपिविष्ट** अर्थात् त्वचारोग से पीड़ित कहा गया है। **सप्तलोकों** के संबंध में बाबुली और पौराणित तथा वैदिक अनुश्रुतियों में अद्भुत समता है। ख़ल्दी अनुश्रुति में **सात स्वर्ग** और **सात नरक** हैं, **तियामत** के **सात मस्तक** हैं। इसी प्रकार इंद्र (ऋ० १०।४६।८) भी **सप्तबुध्न** है, सात तलोंवाला, सिंधु के प्रच्छन्न तल जिनके द्वार इंद्र और अग्नि खोलते हैं (ऋ० ८।४०।५)।

इसलिए कि प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य अन्यथा न समझा जाय स्वयं तिलक सरीखे प्राचीनतावादी विद्वान् का एक उद्धरण दे देना युक्तियुक्त होगा—"मेरा उद्देश्य केवल वैदिक विद्वानों का ध्यान भारतीय और ख़ल्दी वेदों के तुलनात्मक अध्ययन के महत्व की ओर आकर्षित करना था और यह हमने कुछ ऐसे शब्दों के निरुक्त को प्रस्तुत करके किया है जो दोनों में समानार्थक हैं, जो एकतर्फा नहीं, प्रत्युत् प्रायः समकालीन आर्य और तूरानी जातियों का पारस्परिक (सांस्कृतिक) ऋण प्रमाणित करते हैं।' (**भण्डारकर-अभिनंदन-ग्रंथ**, पृ० ४२)।

परंतु इसका अर्थ कभी यह नहीं है कि केवल भारतीयों ने ही अपनी समसामयिक विदेशी सभ्यताओं से सीखा है, उनको स्वयं सिखाया नहीं। जिस प्रकार उन्होंने औरों से पाया है, औरों से लेकर अपनी संस्कृति की काया का निर्माण किया है उसी प्रकार उन्होंने भी दूसरों को दिया है और उनकी देन से भी अन्य संस्कृतियाँ धनी हुई हैं। कुछ लोगों का तो मत है कि बाबुली जंतर-मंतर, जादू-ओझाई, प्रलय-सृष्टि, ज्योतिष-तिथिक्रम

आदि तद्विषयक भारतीय सिद्धांतों से ही अनुप्राणित हैं। सत्य चाहे जो हो, चाहे बाबुलियों ने अपने सिद्धांत भारतीयों से पाये हों, अथवा भारतीयों ने अपने बाबुलियों से, एक बात सिद्ध है कि आदान-प्रदान हुए हैं और फलस्वरूप दोनों संस्कृतियों की काया बनी है। बिना एक के अस्तित्व के दूसरी नहीं बन सकती थी। बाबुली वस्त्रतालिका में **मल-मल** का नाम सिंधु मिलता है जिससे उसका भारतीय ऋण सिद्ध है। यह शब्द अक्कादी (ख़ल्दी) मलमल के अर्थ में केवल इस कारण प्रयुक्त हो सका कि मलमल भारत में सिंधुनद के तट पर बुनी गयी थी। **ओल्ड टेस्टामेंट** का **शदीन** शब्द भी इसी अर्थ में इसी भाव से प्रयुक्त हुआ है। **फ़िनीशियन मनह्** (आभूषण—सायण) ऋग्वैदिक **मना** का रूपांतर मात्र है जो ऋग्वेद ८।७८।२ में—**सचा मना हिरण्यया**—मिलता है। इसी प्रकार भारतीय आधारों ने संसार की पिछली सभ्यताओं के धर्म, दर्शन, कथा-साहित्यादि को काफ़ी प्रभावित किया है। इसी प्रकार अंकगणित, बीजगणित, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में भी अनेक सभ्यताएँ भारत की ऋणी हैं।

संस्कृति केवल कुछ काल तक ही एकदेशीय रह सकती है, अपने विकास-क्रम के युगांत-संधियों के अल्पकाल मात्र में। शीघ्र फिर वह अपने प्रवाह में चल पड़ती है। समष्टि और समन्वय उसके शारीरिक अवयव हैं। शरीर की ही भाँति उसके भी संधियाँ हैं, अनंत जहाँ एकैक संस्कृतियों का सम्मिलन हुआ है, परंतु जैसे नदियों के संगम के पूर्व की पृथक् धाराएँ संगम के बाद मिलकर एक हो जाती हैं, संस्कृति भी अनेक सामाजिक धाराओं का सम्मिश्रित प्रवाह है, अविच्छिन्न और स्वाभाविक।

रघुकुल तिलक

शंकरा बाबू

बाबू रमाशंकर को जेल की नौकरी करते अधिक समय नहीं बीता था। और जिस जेल में हम लोग थे वहाँ आये तो उन्हें एक ही महीना हुआ था। पर इस एक ही महीने में उनका सब लोगों से अच्छा परिचय हो गया था। इसका एक कारण तो यह था कि उनको तीनों श्रेणियों के नजरबंदों का सब काम विशेष रूप से सौंप दिया गया था। और इस सिलसिले में उनको सभी लोगों के संपर्क में आना पड़ता था। दूसरे यह बात भी थी कि वह स्वभाव से मिलनसार थे और पढ़े-लिखे आदमियों में बैठकर अनेक विषयों पर बातचीत कर सकते थे। इसीलिए इस थोड़े-से ही समय में हम लोगों ने उनके बारे में बहुत कुछ जान लिया था।

बाबू रमाशंकर अपना नाम अंग्रेजी में 'आर० शंकरा' लिखते थे और शायद इसीलिए शंकरा बाबू के नाम से मशहूर थे। उनकी उम्र २५ और ३० वर्ष के बीच में रही होगी, यद्यपि वह स्वयं अपनी उम्र का हिसाब भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार से बताया करते थे। इस थोड़ी-सी ही उम्र में उनकी चाँद के बाल बहुत कुछ गायब हो चुके थे। बिना हैट कभी धूप में से गुजरते तो उनकी खोपड़ी पर नजर ठहरना मुश्किल हो जाता था। इतने जल्द बाल उड़ जाने का कारण वह स्वयं अत्यधिक चिंतन तथा अध्ययन बताया करते थे। इस बात का उनको अफ़सोस भी नहीं था, बल्कि अपने आपको (चाहे हँसी में ही सही) लेनिन, जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल, आदि की श्रेणी में रखकर थोड़ा-बहुत गौरव ही मानते थे। उनका रंग गोरा और कद छोटा था। शरीर दुर्बल नहीं था और न स्वास्थ्य ही खराब था, पर तो भी वह हमेशा थके हुए और परेशान-से मालूम होते थे। शायद उनके ऊपर काम का भार बहुत था या कम से कम उसे महसूस बहुत करते थे। अपने दिमाग की परेशानी को कम करने के लिए वह निरंतर सिगरेट पीते रहते थे। वह हमेशा तेज चलते और जल्दी-जल्दी बोलते थे। उनके हँसने का ढंग अजीब था। क्या मजाल कि हँसी या मुस्कराहट क्षण भर से अधिक उनके होंठो पर टिक जाय। आखिर इसके लिए भी तो अवकाश की जरूरत थी, और इसका उनके पास सदैव अभाव रहता था। वह अपने माता-पिता के इकलौते लड़के

थे और हाल ही में उनके पिता का देहांत हो जाने के कारण गृहस्थी का सब भार उनके सिर पर आ गया था। यही कारण था कि उनकी शिक्षा भी स्वयं उनकी ऊँची कल्पना की अपेक्षा अधूरी ही रह गयी और उन्हें अपने नाम के आगे सिर्फ 'एम० ए० (प्रीवी०)' लिखकर ही संतोष करना पड़ता था। वह पी० सी० एस० की परीक्षा में भी बैठे थे और प्रांतीय सेक्रेटेरियट में भी भरती होने का प्रयत्न कर चुके थे—पर दुर्भाग्यवश दोनों कोशिशों में असफल रहे। आखिर मरता क्या न करता के अनुसार वह लड़ाई में किसी विभाग में अपना नाम दे देने की बात सोच ही रहे थे—कि उनके एक मामा की कोशिश से जो पहले से इस विभाग में हैं, उनको जेल की यह नौकरी मिल गयी। वेतन अधिक नहीं था और उनकी साहित्यिक रुचि तथा देशसेवा के पुराने मंसूबों के भी यह नौकरी अनुकूल नहीं पड़ती थी। पर क्या करते? एक स्त्री, दो बच्चे, एक वृद्धा माता—इन सबका भार भी तो उनके सिर पर था और फिर देशसेवा तो मनुष्य हर जगह रहकर कर सकता है। जेल-विभाग में तो सुधार और सेवा का हमेशा अच्छा क्षेत्र रहता है, विशेषकर इस समय जब कि इतने देशसेवक वहाँ बंद थे। यही सब सोचकर शंकरा बाबू जेल के चक्कर में आ फँसे थे। पर यह स्पष्ट ही था कि वह अपने भाग्य से संतुष्ट नहीं हैं।

शंकरा बाबू के बारे में इतनी बातें जानने के बाद भी उनका एक गुण मुझसे अभी तक छिपा रह गया था और वह यह कि वह कवि थे और स्वयं कविताएँ लिखते थे। उनकी कुछ कविताएँ हिंदी की मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित भी हो चुकी थीं। इस सबका परिचय मुझे किस प्रकार मिला, यह भी बता देना बहुत ज़रूरी है।

मैं पहले बता चुका हूँ कि सब नज़रबंदों का काम शंकरा बाबू को सपुर्द था। इन्हीं कामों में यह भी था कि जो पुस्तकें या अन्य वस्तुएँ हम लोगों के लिए बाहर से जमा हों उनको यथास्थान पहुँचा दिया जाय। पुस्तकों पर दस्तख़त तो सुपरिंटेंडेंट साहब करते थे, पर पुस्तकों को दस्तखतों के लिए पेश करना और इसके बाद जो पुस्तक जिसकी हो उसको दे देना, यह शंकरा बाबू का काम था। पर वह इतने कार्यव्यस्त थे कि दस्तख़त होने के बाद भी पुस्तकें हफ्तों उनके दफ्तर में पड़ी रह जाती थीं। वहाँ एक बड़ा-सा संदूक रखा हुआ था। दस्तख़त होने के बाद उसी में सब पुस्तकें भर दी जाती थीं। इस कई सौ पुस्तकों के ढेर में से किसी विशेष पुस्तक को ढूँढ़ निकालना आसान काम नहीं था। इसीलिए शंकरा बाबू को रोज़ याद दिलाने और सप्ताह में कम से कम एक बार सुपरिंटेंडेंट से शिकायत करने के बावजूद पुस्तकें हम लोगों को नहीं मिल पाती थीं। मुझे घर से आये हुए एक पत्र से मालूम हुआ था कि मेरे लिए कुछ पुस्तकें जमा की गयीं और इस बात को १५ दिन से अधिक हो चुके थे। मुझे मालूम था कि सुपरिंटेंडेंट के दस्तख़त भी हो चुके हैं। रमाशंकर बाबू से रोज़ तकाज़ा करता था और वह रोज़ अगले दिन भेजने का पक्का वादा कर लेते थे। आखिर एक रोज़ मुझसे न रहा गया। मैंने उनसे कहा,

"बाबू रमाशंकर, आप पढ़े-लिखे शरीफ़ आदमी होकर मुझसे आठ रोज़ से बराबर झूठा वादा कर रहे हैं। आपको जरा भी संकोच नहीं होता।"

इस पर बाबू रमाशंकर कुछ लज्जित हुए, पर कहने लगे, "शास्त्रीजी, जितना काम मुझे करना पड़ता है, अगर आपको करना पड़े तो आप भी अपनी पढ़ाई-लिखाई और शराफ़त सब भूल जायँ। रही झूठा वादा करने की बात सो अगर ऐसा न करूँ तो आप लोगों से पिंड कैसे छुड़ाऊँ। ख़ैर, अब आप कल सवेरे स्वयं ५ मिनट के लिए मेरे दफ़्तर में चले आइये और अपनी पुस्तकों को ढूँढ़कर निकाल लीजिये। यह आपका पर्चा है। किसी नंबरदार को साथ लेकर बिना बुलाये ही चले आइयेगा।"

मैंने कहा, "बहुत अच्छा। पर धन्यवाद तभी दूँगा जब पुस्तकें मिल जायँगी।"

अगले दिन सवेरे जैसे ही मालूम हुआ कि शंकरा बाबू अपने दफ़्तर में आ गये हैं, मैं भी अपनी बैरक के नंबरदार को साथ लेकर वहाँ पहुँच गया। शंकरा बाबू ने मुझे देखते ही अपने पास रखी हुई कुर्सी से अपना हैट उठा लिया और मुझे बैठने का इशारा करते हुए बोले, "आइये शास्त्रीजी, मुझे बड़ा अफ़सोस है कि आपको किताबों के लिए इतने दिन इंतज़ार करना पड़ा। देखिए वह संदूक़ रखा हुआ है। उसी में आपकी किताबें होंगी। कृपा करके देख लीजिये।"

शंकरा बाबू के राइटर नंबरदार ने वह संदूक खोल दिया और मैं अपनी कुर्सी उसके पास खींचकर पैंठ में बिकती हुई रद्दी किताबों के ढेर की तरह पड़ी हुई उन किताबों को एक-एक करके देखने लगा। दो घंटे के अटूट परिश्रम के बाद मैंने एक के सिवा अपनी और सब किताबें ढूँढ़ निकालीं और कुछ और साथियों की कुछ फुटकर किताबें भी, जिनके लिए वे लोग महीनों से तकाज़ा कर रहे थे, निकालकर शंकरा बाबू की मेज़ पर रख दीं।

मेरी सात किताबें थी। शंकरा बाबू हरएक किताब पर सुपरिंटेंडेंट के दस्तख़त देखते, किताब का नाम पढ़ते और मुझे देते जाते, " 'मानव,'—'अनामिका,'—'ग्राम्या,'—'यामा,'—'सांध्यगीत,'—'प्रवासी के गीत,'—'कुंकुम'। ओहो, यह तो काव्य का पूरा ख़ज़ाना है। यों कहिये, मुझे मालूम ही न था वरना 'ख़ूब गुजर जाती जो मिल बैठते दीवाने दो।' आप तो बड़े रसिक मालूम होते हैं। आप स्वयं भी निश्चय ही कविता लिखते होंगे।"

मैं कुछ घबराया कि कहीं वास्तव में शंकरा बाबू की काव्य-चर्चा का शिकार न बनना पड़े। पर साथ ही यह जानकर कि वह काव्य-प्रेमी और संभवतः स्वयं कवि हैं, उनके प्रति एक अपूर्व सद्भाव मन में जाग्रत हुआ। तो भी मैंने इतना ही कहा, "जी नहीं, मैं कवि नहीं हूँ। ये पुस्तकें तो यों ही कूतूहलवश मँगा ली थीं। ज़रा देखना

चाहता था कि हिंदी की काव्यधारा आजकल किस ओर बह रही है। बाहर तो यह सब पढ़ने का अवकाश मिलता नहीं।"

शंकरा बाबू को मानों कुछ ईर्ष्या-सी हुई। कहने लगे, "अरे साहब, तभी तो मैं कहता हूँ कि हमसे तो आप ही लोग अच्छे हैं। आप लोग खेलते-कूदते हैं, पढ़ते-लिखते हैं और एक हम—(यहाँ शंकरा बाबू ने अपने आपको एक अनुल्लेखनीय गाली दी) हैं कि मरने तक की फुर्सत नहीं। लेकिन शास्त्रीजी, विश्वास कीजिये, कभी हम भी आदमी थे और साहित्य-क्षेत्र में कुछ कर गुजरने के स्वप्न देखा करते थे। अब भी कभी-कभी तबियत नहीं मानती और जब जनून सवार होता है तो रात को ३-३ बजे तक बैठकर कविता लिखता रहता हूँ। देखिये एक कविता कल रात ही लिखी है। आपको ज़रूर सुनाऊँगा। इस समय एकांत भी है।"

शंकरा बाबू ने अपनी जाकट की जेब से एक छोटी-सी नोटबुक निकाली और उसके पन्ने पलट ही रहे थे कि जेल के डाक्टर साहब डा० शर्मा कुछ घबराये हुए और परेशान-से उस कच्चे फर्श की छोटी-सी कोठरी में दाखिल हुए।

मेरा डाक्टर साहब से खासा परिचय था। पर अन्य सभी कैदियों के समान मेरी भी उनके बारे में कुछ अच्छी राय नहीं थी। हम लोग उनकी हस्ती को अपने जेल-जीवन की अनेक भयंकर ईतियों में से एक मानते थे। उन्होंने पहले मुझे ही संबोधन किया, "नमस्ते, शास्त्रीजी, आप खूब मिल गये। मैं तो आपसे मिलना ही चाहता था। आपकी बैरक में एक साहब हैं। क्या नाम है उनका। वह जिनकी आँखों में तकलीफ है, ज़रा चिड़चिड़े स्वभाव के—"

मैंने कहा, "पंडित श्यामलाल।"

"हाँ-हाँ, वही पं० श्यामालाल," डाक्टर साहब ने कहा, "कल शाम वह अस्पताल में गये थे अपनी आँखों में दवा डलवाने। बिलकुल शाम हो गयी थी और मैं जाने ही वाला था। इस पर भी उनको देखते ही मैं रुक गया। उनकी आँखों को देखा और वह जो बदमाश न्यादर है, जो वहाँ काम करने के लिए भेज दिया गया है, उससे मैंने आर्जिकोल डालने के लिए कह दिया। पर उस कंबख्त ने—अब बताइये मेरा इसमें क्या कसूर है—उस कम्बख्त ने उसकी बजाय टिंकचर आयोडीन उनकी आँखों में डाल दिया। वह साहब तकलीफ़ के मारे चीख पड़े। मैंने तुरंत उनकी आँखों को खुद धोया और सूदिंग आयंटमेंट लगा दिया। पर वह गुस्से के मारे आपे से बाहर हो रहे थे। मुझे भी बुरा-भला कहने लगे। मैंने सोचा इनको तकलीफ़ है, इस वक्त क्यों बात बढ़ायी जाय। मैं चुप ही रहा और उनसे माफ़ी तक माँगी। पर वह किसी तरह न माने। कहते थे कि सुपरिंटेंडेंट से शिकायत करूँगा और अगर आँखें फूट गयीं तो एक लाख रुपये

का दीवानी में दावा करूँगा। मैंने बहुत समझाया कि घबराइये नहीं आपकी आँखें ठीक हो जायँगी, पर उनकी एक समझ में न आयी। अब आप उनको ज़रा समझा दीजियेगा कि जो कुछ होना था हो गया। अब बात बढ़ाने से क्या फ़ायदा।"

मैं यह सारा वृत्तांत श्यामलालजी से पहले ही सुन चुका था। मैंने कहा, "देखिये डाक्टर साहब, इस मामले को आप जितना छोटा समझ रहे हैं उतना नहीं है। श्यामलाल जी को रात भर सख्त तकलीफ़ रही है। उन्हें बिलकुल नींद नहीं है। मैं तो इस मामले को उनकी ओर से स्वयं सुपरिंटेंडेंट के सामने रखनेवाला था। अब मैं उनसे कैसे कहूँ कि वह चुपचाप बैठे रहें। आखिर सारी ज़िम्मेदारी तो आपकी ही है।"

डाक्टर साहब पहले तो चुप रहे, फिर कुछ सोचकर कहने लगे, "ख़ैर, आप जैसा उचित समझें। मैं तो जेल की नौकरी से खुद परेशान हूँ। किसी बाहर की डिस्पेंसरी में होता तो प्राइवेट प्रैक्टिस का मौका भी मिलता। पर आप लोगों से मुझे ऐसी उम्मीद नहीं थी। हम लोग रात-दिन आपके काम में लगे रहते हैं। इस पर भी अगर ज़रा-सी गलती हो जाय तो आप ज़रा भी खयाल नहीं करते।"

डाक्टर साहब की आकृति से प्रकट होता था कि मानों सारा कसूर हम लोगों का ही है और उनके साथ भारी अत्याचार हो रहा है। मैंने उनसे बहस करना व्यर्थ समझा और केवल यह कहकर पीछा छुड़ाया कि "अच्छा देखिये, मैं श्यामलालजी से बात करके देखूँगा।"

शंकरा बाबू ने अपनी कविता निकाल ली थी और उसे सुनाने के लिए उत्सुक थे। कहने लगे, "अरे भई डाक्टर, क्यों परेशान होते हो? इसकी तरकीब हम तुम्हें बता देंगे। इस वक्त बैठो, एक कविता सुनो। इसका शीर्षक है 'भग्न हृदय'। इसमें—"

शंकरा बाबू का वाक्य पूरा न हुआ था कि एक नंबरदार कुछ बड़बड़ाता हुआ आया और उसने सिगरेट की डिबिया के टुकड़े पर लिखा हुआ एक पर्चा उनके हाथ में दिया।

शंकरा बाबू की त्योरियाँ चढ़ गयीं। पर्चा लेकर पढ़ने लगे। "बर्फ़ अभी तक नहीं आया। खाँ साहब को १०४ बुखार है।...करीमुद्दीन!"

करीमुद्दीन उस कैदी का नाम था जो शंकरा बाबू के क्लर्क, अर्दली और मुसाहिब का काम करता था। वह उनकी कुर्सी के पीछे जमीन पर बैठा बीड़ी पी रहा था। आवाज सुनते ही बीड़ी बुझाकर और कान में लगाकर तुरंत मेज के सामने आकर खड़ा हो गया।

"क्यों भई करीमुद्दीन, यह क्या बात है। बर्फ़ आये हुए इतनी देर हो गयी और तुमने अभी तक नहीं भेजा?"

"हुजूर, बरफ़ तो अभी नहीं आया" करीमुद्दीन ने कहा।

शंकरा बाबू आवेश में आकर कुर्सी से खड़े हो गये, "अबे देखता भी है या योंही बातें बनाता है। देख उस बोरी में क्या रखा है? तेरी आँखें तो नहीं फूट गयीं?"

"हुजूर, उसमें तो..." करीमुद्दीन ने विनयपूर्वक कहा।

शंकरा बाबू ने उसे धक्का दिया, "अबे देख, देख जाकर पहले। इन निकम्मे बदमाशों के मारे नाक में दम है।"

करीमुद्दीन ने चुपचाप जाकर बोरी खोली और उसमें से तीन-चार बड़े-बड़े डले कपड़ा धोनेवाले साबुन के निकालकर शंकरा बाबू के सामने लाकर रख दिये—"हुजूर इसमें यह साबुन आया है।"

"साबुन आया है?" शंकरा बाबू ने कड़ककर कहा, "साबुन कैसे आया? हमने तो बर्फ़ मँगाया था। यह ठेकेदार भी अजीब आदमी है। आज ही इसकी रिपोर्ट करूँगा। कहाँ है वह इंडेंटवाली किताब।"

करीमुद्दीन ने इंडेंट का रजिस्टर शंकरा बाबू के सामने रख दिया।

"हैं!" शंकरा बाबू ने चौंककर कहा, "बर्फ़ का इंडेंट तो यहीं मौजूद है! अबे, मैंने तुझसे कहा नहीं था कि बर्फ़ का इंडेंट फाड़कर दे देना और तूने साबुन का इंडेंट दे दिया!"

"हुजूर ने तो यह कहा था कि आखिरवाला इंडेंट दे आना," करीमुद्दीन ने कहा, "मैं क्या अंग्रेजी थोड़े ही पढ़ा हूँ जो देख लेता कि उसमें साबुन लिखा है या बर्फ़! जो सबसे आखिर का था वही मैं दे आया।"

"चुप रहो, जबान मत चलाओ ज्यादा," शंकरा बाबू ने डाँटकर कहा, "आज तुम्हारी पेशी करायी जायगी।"

वह नंबरदार जो पर्चा लेकर आया था एक तरफ़ खड़ा हुआ था। शंकरा बाबू ने उससे कहा, "तुम जाओ। उनसे कह देना कि बर्फ़ तो अभी नहीं आया। आते ही भेज दिया जायगा।"

डाक्टर साहब ने कुर्सी से उठते हुए कहा, "मैं जाकर देखता हूँ। शायद अस्पताल में पड़ा हो कुछ बर्फ़।"

"अरे यार, बैठो भी;" शंकरा बाबू ने कहा—"पहले कविता सुनते जाओ।"

शंकरा बाबू ने अपनी नोट बुक फिर सँभाली। "मैं आ सकता हूँ शंकरा बाबू!" बाहर से आवाज आयी। शंकरा बाबू ने झुंझलाकर नोट बुक को मेज पर पटकते हुए कहा, "आइये, आइये; आप भी आइये।"

एक खद्दरधारी नवयुवक, नंगे सिर, नंगे पाँव, कुछ उत्तेजित-से, अंदर दाखिल हुए। यह देवेंद्रजी थे। यह बी क्लास के सज़ायाफ्ता कैदियों में से थे और दूसरी बैरक

में रहते थे। मैं इन्हें देखते ही खड़ा हो गया और हम लोग एक दूसरे से गले मिले। कमरे में और कुर्सी नहीं थी। इसलिए मैं खड़ा ही रहा। देवेंद्रजी भी नहीं बैठे और शंकरा बाबू को एक पर्चा देकर उनसे कहने लगे, "यह जेलर साहब ने आपके लिए पर्चा दिया है। मैं तीन रोज से बराबर कागज मँगा रहा हूँ पर आपने नहीं भेजा। अब जेलर साहब ने इस पर लिख दिया है। आप मुझे फ़ौरन कागज़ दिलवा दीजिये।"

शंकरा बाबू ने उस पर्चे को आद्योपांत कम से कम दो बार पढ़ा। उनके चेहरे का रंग उतर-सा गया। आख़िर वह बोले, "हाँ तो आप मेरी शिकायत करेंगे। अच्छा, जरूर कीजिये शिकायत। करमुद्दीन, एक तख्ता कागज़ दे दो इनको। देखा आपने, शास्त्रीजी, यह इनाम मिलता है हम लोगों को। खून-पसीना एक करके आप लोगों की सेवा करता हूँ। इस पर भी अगर ज़रा-सी गलती हो जाय तो शिकायत की धमकी। क्यों जनाब, (देवेंद्रजी से) आपने यह नहीं सोचा कि मुझे कुछ दुश्मनी थी आपसे, जो जान-बूझकर आप ही की क्लास का आर्डर रोके रहता? जिस वक्त यह आर्डर आया, मैं आप ही लोगों के काम में परेशान था। यह कागज़ कहीं दूसरे कागज़ों के नीचे दबा रह गया। उस दिन जैसे ही यह आर्डर मैंने देखा, आप तीनों साहबान को तुरंत बी क्लास बैरक में भिजवा दिया।"

देवेंद्रजी ने उनकी बात का कुछ उत्तर न देकर मुझसे कहा, "शास्त्रीजी, शायद आपको मालूम नहीं है कि यह क्या मामला है। करीब एक महीना हो गया कि मेरी और दो और साथियों की बी क्लास का आर्डर आ गया था। पर उस पर सिर्फ चार-पाँच दिन हुए अमल किया गया है। मैं यह नहीं कहता कि शंकरा बाबू को हम लोगों से दुश्मनी थी। लेकिन आखिर ऐसा हुआ क्यों, और जब हुआ तो सुपरिंटेंडेंट और जेल-विभाग के दूसरे अधिकारियों को इसकी सूचना होनी चाहिए ताकि और लोगों के साथ ऐसी ज्यादती न हो। आप जानते हैं कि मेरे लिए बी० और सी० क्लास में कोई अंतर नहीं है, पर इन लोगों को तो सबक़ मिलना ही चाहिए।"

मुझे यह बात बिलकुल मालूम नहीं थी। सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। शंकरा बाबू पर कुछ दया आयी, पर इससे अधिक उनके प्रति मन में क्रोध और घृणा का भाव था। मैंने कहा, "शंकरा बाबू, यह तो बहुत गंभीर मामला है। आप इसे कैसे दबा सकते हैं! आखिर इतने दिन के राशन का हिसाब भी तो आपको दिखाना होगा?"

"अजी वह तो सब ठीक हो जायगा," शंकरा बाबू ने उत्तर दिया, "आप कहें तो मैं इतने दिन का सब राशन अभी इन लोगों के पास भिजवा दूँ। लेकिन देवेंद्रजी को तो शिकायत करके ही संतोष होगा, ऐसा मालूम होता है।"

"जी हाँ, संतोष होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।' देवेंद्रजी ने उत्तेजित होकर कहा, और वह कागज लेकर तुरंत बाहर चले गये।

मैं भी जाने की तैयारी में अपनी किताबें उठाने लगा पर इतने में हमारी बैरक के चौधरी जगदीश्वर सिंह एक पर्चा हाथ में लिये वहाँ आ पहुँचे। चौधरी साहब बैरक के प्रधान थे और जेल-अधिकारियों से हम सबकी ओर से बातचीत किया करते थे। वह प्रति दिन इस समय शंकरा बाबू से मिला करते थे और जो रोज की शिकायतें या जरूरतें होती थीं उनके बारे में उनसे बातचीत कर लिया करते थे। जो बातें बाकी रह जाती थीं या जिन शिकायतों को शंकरा बाबू दूर नहीं कर पाते थे वे सप्ताह में एक बार सुपरिंटेंडेंट के सामने रख दी जाती थीं। लगभग दो महीने से यही क्रम चल रहा था।

चौधरी साहब के अंदर आते ही मैं उनके लिए कुर्सी खाली करके जाने लगा, पर उन्होंने कहा, "ठहर जाइये, शास्त्रीजी, पाँच मिनट का काम है। मैं भी चलता हूँ।"

इस पर मैं कुर्सी उनके लिए छोड़कर किताबों के उस बड़े संदूक पर बैठ गया। चौधरी साहब शिष्टाचार-वश थोड़ा संकोच प्रकट करने के बाद कुर्सी पर बैठ गये।

"कहिये चौधरी साहब," शंकरा बाबू ने उनसे कहा; "आज की फ़ेहरिस्त तो बहुत लंबी मालूम होती है।"

"यह आप ही की इनायत है;" चौधरी साहब ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया। "अगर आप लोग ज़रा ध्यान से काम करें तो हम लोगों को कुछ भी कहने को न रहे। अब ज़रा सुनिये। पहली शिकायत गोयल साहब की है। उनको अपनी अँगीठी रखने की इजाज़त मिल गयी थी; लेकिन जब कोयले के लिए उन्होंने इंडेंट भेजा तो वह आपके साहब ने नामंजूर कर दिया। अब वह कहते हैं कि मैं खाली अँगीठी का क्या करूँ।"

शंकरा बाबू के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट थी; मानों वह अपने मन में कह रहे हों,—'इस बात का तो मुँहतोड़ जवाब दूँगा।' उन्होंने इंडेंट का रजिस्टर निकालते हुए कहा, "यह देखिये साहब ने खुद अपने कलम से यह इंडेंट काटा है। उनके दस्तख़त मौजूद हैं। यह तो आप उन्हीं से कहियेगा।"

चौधरी साहब ने पेंसिल से अपने पर्चे पर कुछ निशान बनाया और आगे चले। "दूसरी शिकायत सेठजी की है। साहब ने उनसे अपनी चारपाई मँगाने के लिए कह दिया था, लेकिन जब चारपाई आयी तो उसकी अदवायन की रस्सी निकाल ली गयी। अब वह चारपाई कैसे इस्तेमाल हो सकती है।"

शंकरा बाबू ने तुरंत कहा, "आपको शायद मालूम नहीं कि लंबी रस्सी बैरक में नहीं रखी जा सकती। इसकी मदद से कैदी भाग सकते हैं।"

चौधरी साहब ने कहा, "लेकिन जो जेल की चारपाइयाँ हैं उनमें तो अदवायन मौजूद है।"

"अच्छा?" शंकरा बाबू ने आश्चर्य से कहा; "तो यह बात शायद जेलर साहब को मालूम न होगी। मैंने उन्हीं के हुक्म से वह रस्सी निकलवायी थी। मैं उनसे कहूँगा।"

चौधरी साहब एक और निशान लगाकर बोले; "और खुद मेरी मसहरी के बाँस रोक लिये गये। अब बताइये मसहरी कैसे लगायी जा सकती है?"

शंकरा बाबू ने तुरंत कहा; "बाँस तो साहब किसी तरह नहीं दिये जा सकते। इसके लिये तो खास आर्डर्स हैं। इसके बारे में भी अगर आपको कुछ कहना हो तो साहब से ही कहियेगा।"

चौधरी साहब ने एक और निशान लगाया। "चौथी बात सबसे ज्यादा जरूरी है। श्यामलालजी की आँखों में सख्त तकलीफ है। वह साहब से फौरन मिलना चाहते हैं। आप साहब से पूछकर उनको बुलवा लीजिये—परेड को तो अभी कई दिन हैं।"

डाक्टर साहब अभी तक एक पुस्तक के पन्ने पलट रहे थे। श्यामलालजी का ज़िक्र सुनते ही चौंक पड़े और बड़ी उत्सुकता से शंकरा बाबू की ओर देखने लगे।

शंकरा बाबू ने कहा; "बहुत अच्छा; मैं साहब से ज़रूर ज़िक्र कर दूँगा और अगर उन्होंने हुक्म दिया तो श्यामलालजी को बुलवा लूँगा। लेकिन चौधरी साहब; यह मामला तो अगर यहीं तक रहता तो अच्छा होता। यह डाक्टर बेचारे—यह भी अपने ही आदमी हैं।"

चौधरी साहब ने कहा; "मैं तो सभी को अपने आदमी समझता हूँ; शंकरा बाबू! लेकिन क्या इसी बात से किसी को लोगों की आँखें फोड़ देने का अधिकार मिल जाता है? मुझे अफ़सोस है कि मैं इस मामले में कुछ नहीं कर सकता। इस बात को बैरक के सभी लोगों ने बहुत ज्यादा महसूस किया है।"

शंकरा बाबू कुछ कहना चाहते थे पर इसी समय एक जमादार ने दरवाज़े पर आकर कहा; "शंकरा बाबू; आपको साहब बुला रहे हैं।"

शंकरा बाबू तुरंत खड़े हो गये। और सब लोग भी उनके साथ कमरे से बाहर निकल आये। शंकरा बाबू और डाक्टर साहब कुछ काना-फूसी करते हुए जेल के फाटक की ओर गये। मैं चौधरी साहब के साथ अपनी बैरक में वापस आ गया।

अगले दिन सवेरे से ही बैरक के अहाते में कुछ असाधारण चहल-पहल-सी मालूम हुई। जमादार सफ़ैयों को डाँट रहा था। बैरक के जँगले तेल-पानी से साफ़ किये जा रहे थे। जो फ़िनाइल कई-कई बार लिखने पर मुश्किल से मिलती थी, आज हमारी बैरक का मेहतर उसी को पाख़ाने साफ़ करने में बड़ी बेदर्दी से खर्च कर रहा था। हमारे खाँ साहब के पास, वही जिनको पहले दिन १०४ बुखार था, एक बड़ा-सा पेचवान था। वह जमादार ने उनकी इजाजत से पानी की टंकी में एक स्टूल रखवाकर उसके ऊपर रखवा दिया। आज साग-तरकारी और खाने की अन्य सामग्री अभी से आ गयी थी और अच्छी और अच्छी मात्रा में थी। दूध में भी आज पानी का उतना अंश नहीं था।

उस दिन परेड का दिन नहीं था। फिर यह सब बंदोबस्त क्यों हो रहा है? ज़रूर कोई बड़ा अफ़सर आनेवाला है; यही सबका खयाल हुआ। आखिर पूछताछ करने पर पता चला कि कलक्टर साहब आयेंगे। नये कलक्टर मि० मेहता ने हाल ही में चार्ज लिया था और वह पहली बार जेल में आनेवाले थे। शायद इसलिए आज सफ़ाई का विशेष आयोजन था। हम सब लोग भी इन नये साहब का रंग-ढंग देखने के लिए उत्सुक थे। तुरंत ही यह प्रश्न उठा कि इनके प्रति क्या रवैया होना चाहिए और इनके सामने कुछ शिकायतें रखनी चाहिए या नहीं। यह एक गंभीर समस्या थी। अतः इस पर विचार करने के लिए चौ० जगदीश्वर सिंह ने बैरक के सब लोगों को इकट्ठा किया और सभा होने लगी।

सबसे पहला प्रश्न यह था कि जब कलक्टर साहब बैरक के अंदर आयें तो उनके सम्मान के लिए सब लोगों को खड़ा होना चाहिए या नहीं। इस सवाल पर पहले भी कई बार विचार हो चुका था। लेकिन आज क्योंकि एक नया व्यक्ति कलक्टर की हैसियत से आनेवाला था, इसलिये पं० श्यामलाल के प्रस्ताव पर इस पर फिर विचार शुरू हुआ। अधिक समय नहीं था तो भी तीन-चार व्यक्तियों ने संक्षेप में अपने विचार प्रकट किये। श्यामलालजी की राय थी कि कलक्टर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रतिनिधि की हैसियत से आता है इसलिए उसके सम्मानार्थ किसी हालत में खड़ा न होना चाहिए। गोयल साहब ने कहा कि हमें अपने शत्रुओं के साथ भी शिष्टाचार को न छोड़ना चाहिए। कामरेड निगम की राय हुई कि इस मामले पर कोई भी सामूहिक निश्चय होना ठीक नहीं। जैसा जिसके मन में आये वैसा करे। मैं भी कुछ कहना ही चाहता था कि इतने में एक जमादार एक पर्चा हाथ में लिये बैरक में आया। पूछने पर मालूम हुआ कि पं० श्यामलाल को मय बिस्तर के बुलाया गया है। इस खबर से ऐसी सनसनी-सी फैली कि सभा की कार्यवाही जारी रखना असंभव हो गया। सब लोग हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए। कलक्टर के सम्मानार्थ खड़े होने के बारे में यही रहा कि जो जिसके मन में आये, वैसा करे और शिकायतों के बारे में चौ० साहब के ऊपर छोड़ दिया गया कि जैसा उचित समझें करें। नये कलक्टर मि० मेहता के बारे में यह निश्चय नहीं था कि वह हिंदी अच्छी तरह समझते हैं या नहीं और चौधरी साहब को अँग्रेजी बोलने में संकोच होता था। इसलिए चौधरी साहब ने कुछ ख़ास-ख़ास बातें जिनमें पं० श्यामलाल का मामला सबसे जरूरी था; मि० मेहता के सामने रखने का काम मुझे सपुर्द कर दिया।

इस समय हरएक के सामने प्रश्न यह था कि पं० श्यामलाल को क्यों बुलाया गया है। बिस्तर समेत बुलाये जाने के दो ही अर्थ हो सकते थे—या तो किसी दूसरी जेल को तबादला या कोठरी की सज़ा। इस विषय पर उच्च स्वर में आलोचना हो ही रही थी कि हमारी बैरक के नंबरदार ने आकर खबर दी कि पं० श्यामलाल को कोठरियों की

ओर जाते हुए देखा गया। अब तो आलोचना का स्वर और भी ऊँचा हो गया। मालूम होता था कि बैरक का पारा एकदम कई डिग्री चढ़ गया। कुछ लोगों की राय हुई कि भूख-हड़ताल होनी चाहिए। कुछ ने कहा कि कलक्टर के आने पर 'इंक़लाब जिंदाबाद' के नारे लगाये जायँ। पर आखिर तय यही हुआ कि इस बात को कलक्टर और सुपरिंटेंडेंट के सामने रखा जाय और देखा जाय कि क्या उत्तर मिलता है; इसके बाद ही कुछ निश्चय करना ठीक होगा।

आखिर कलक्टर साहब भी आ पहुँचे। मालूम हुआ कि दफ़्तर से निकलने के बाद वह सबसे पहले हमारी ही बैरक की ओर आ रहे हैं। सब लोग यथास्थान जाकर बैठ गये। कलक्टर साहब का जलूस बैरक में दाख़िल हुआ। सबसे आगे स्वयं मि० मेहता थे। अधेड़ उम्र; गौर वर्ण; छोटा कद; कर्जन फैशन; निकर और कमीज की संक्षिप्त पोशाक—इस सबके साथ उनके चेहरे पर कुछ ऐसा भाव था जिससे सरकारी पद की मजबूरियों के बावजूद सज्जनता तथा सहानुभूति प्रकट होती थी। उनके पीछे जेलर; शंकरा बाबू और डाक्टर शर्मा थे और इनके पीछे कई जमादार और नंबरदार। हम लोगों का खयाल था मि० मेहता पहली बार आ रहे हैं, इसलिए जेल के सुपरिंटेंडेंट कैप्टेन दूबे भी उनके साथ होंगे। पर उनका यह समय अस्पताल में जाने का था; इसीलिए न आ सके होंगे।

"गुड् मार्निंग, जेंटलमेन"—मि० मेहता ने बैरक में घुसते ही कहा।

दर्वाजे के निकट ही दाहनी ओर लाला किशोरीलाल की सीट थी। और सब लोगों ने तय कर लिया था कि उन सबकी ओर से मैं ही मि० मेहता से बातचीत करूँगा; पर लाला किशोरीलाल का हमारे राजनैतिक संघर्ष से कोई संबंध नहीं था; इसलिए वह इस नियंत्रण से मुक्त थे। वह तुरंत खड़े हो गये और मि० मेहता को बहुत झुककर सलाम करने के बाद कहने लगे; "हुजूर मुझे कुछ अर्ज करना है। मैं सारी उम्र सरकार का वफ़ादार ख़ादिम रहा हूँ। मेरे ख़ानदान के किसी आदमी का कांग्रेस से कोई संबंध नहीं है। फिर मुझे किस जुर्म में यहाँ बंद किया गया है; यही मैं जानना चाहता था। मैं तो बिलकुल बरबाद हो गया।"

"आपका नाम किशोरीलाल है?" मि० मेहता ने शुद्ध हिंदी में पर कुछ अंग्रेजियत के लहजे में पूछा।

"जी हुजूर;" लाला किशोरीलाल ने उत्तर दिया। मि० मेहता ने कहा; "ओ येस; आपका मामला तो मेरे सामने पेश हो चुका है। आपके चचा रायसाहब मनोहरलाल मुझसे मिले थे। लेकिन मैं मजबूर हूँ। पुलिस की रिपोर्ट आपके बारे में बहुत खराब है।"

"हुजूर खुद जाँच कर लें।"

"मेरे पास जाँच का और कोई ज़रिया नहीं है। अगर आप दरअस्ल छूटना

चाहते हैं तो अपने यहाँ के थानेदार को खुश कर लीजिये। वह अच्छी रिपोर्ट भेजेगा तो मैं आपको फौरन छोड़ दूँगा।"

"लेकिन हुजूर; वह तो किसी तरह नहीं मानता।"

"यह आपकी बदकिस्मती। तब आप थोड़े दिन और यहाँ आराम लीजिये। अगर यहाँ कोई तकलीफ हो तो हमको बता दीजियेगा।" यह कहकर मि० मेहता आगे बढ़ गये।

जब तक मि० मेहता मेरे स्थान तक पहुँचे; उनसे और किसी ने बातचीत नहीं की और न कोई सम्मानार्थ खड़ा ही हुआ। जैसे ही वह मेरे सामने आये मैंने खड़े होकर कहा—"मुझे सब लोगों की तरफ़ से आपसे कुछ अर्ज करना है।"

"कहिये;" मि० मेहता ने कहा।

मैंने सबसे पहले पं० श्यामलाल का सारा किस्सा आद्योपांत उन्हें सुना दिया और अपना यह संदेह भी प्रकट कर दिया कि उन्हें शायद इसीलिए कोठरी में भेजा गया है कि वह शिकायत न कर सकें।

मि० मेहता ने डाक्टर साहब की ओर देखकर पूछा; "यह क्या मामला है; डाक्टर?"

डाक्टर ने इस प्रकार उत्तर दिया मानों एक कंठस्थ वाक्य दोहरा रहे हों; "जी; यह बात बिलकुल ग़लत है। मैंने खुद उनकी आँखों में दवा डाली। भला मैं टिंकचर आयोडीन कैसे डाल सकता था?"

मि० मेहता ने जेलर की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

जेलर ने कहा—"हुजूर; मुझे इसके बारे में कुछ मालूम नहीं है। लेकिन उनको जो कोठरी की सजा दी गयी है वह एक दूसरे जुर्म के सिलसिले में है।"

"किस जुर्म के?"

"मैं इसके बारे में हुजूर से दफ्तर में अर्ज करूँगा।"

"नहीं; कहिये; यहीं कहिये। इन लोगों को भी मालूम हो जाना चाहिये।"

"हुजूर; उसका ताल्लुक खुद हुजूर से ही है।"

"मुझसे? मुझसे क्या ताल्लुक हो सकता है? मैंने तो उनको कभी देखा भी नहीं। खैर; आप बताइये क्या बात है?"

"मुझे एक खास जरिये से मालूम हुआ था कि उनका इरादा आपके साथ गुस्ताखी करने का है।"

"साफ-साफ कहिये न। आपको क्या मालूम हुआ था?"

"हुजूर...हुजूर...आपका हुक्म है तो मुझे कहना ही पड़ता है। उन्होंने कहा था कि जब कलक्टर साहब आयेंगे तो मैं उनके मुँह पर थूकूँगा। मैंने सुपरिंटेंडेंट साहब से इसकी रिपोर्ट की। उन्होंने हुक्म दिया कि उनको कोठरी में बन्द कर दिया जाय।"

मि० मेहता कुछ मुस्कराये; "मालूम होता है कि डाक्टर साहब के ऊपर जो उनको गुस्सा था वह हमारे ऊपर उतारना चाहते थे। उनका दिमाग तो कुछ गड़बड़ नहीं है?" मि० मेहता ने मेरी ओर देखा।

युद्ध-नीति के अनुसार शत्रु के आक्रमण के बचाव का सबसे अच्छा उपाय यही माना जाता है कि पहले स्वयं आक्रमण कर दिया जाय। मैंने समझ लिया कि जेल-अधिकारियों ने इसी नीति के अनुसार कार्य किया है। मैंने कहा, "यह बात बिलकुल गलत और गढ़ी हुई है। पं० श्यामलाल ने कभी ऐसा नहीं कहा। आप मालूम करें कि इन लोगों के पास इसका सबूत क्या है?"

मि० मेहता ने जेलर से पूछा; "आपको कैसे मालूम हुआ?"

"जी; मुझसे...मुझसे...बाबू रमाशंकर ने रिपोर्ट की।"

बाबू रमाशंकर ने! सबकी दृष्टि उनकी ओर उठ गयी।

"आपसे किसने कहा?" मि० मेहता ने शंकरा बाबू से पूछा।

"हुजूर; मुझे इसी बैरक के एक खास आदमी से मालूम हुआ था। उनका नाम यहाँ जाहिर करना मुनासिब नहीं है; वरना फिर कोई बात मालूम न हो सकेगी।"

"अच्छा", मेहता ने कहा। इसके बाद वह मेरी ओर देखकर कहने लगे, "मैं इसके बारे में मालूम करूँगा और सुपरिंटेंडेंट से भी कहूँगा कि खास तौर पर जाँच करें। अब बहुत देर हो गयी है और मुझे सारे जेल का राउंड करना है। और जो शिकायतें हों उन्हें आप लिखकर मेरे पास भेज दें।"

यह कहकर मि० मेहता एकदम लौट पड़े और कुछ गंभीर आकृति तथा तेज चाल के साथ बैठक से बाहर निकल गये।

अगले दिन रविवार था। सोमवार की दोपहर को १ बजे के करीब चौधरी जगदीश्वर सिंह को और मुझे सुपरिंटेंडेंट के दफ्तर में बुलाया गया। हम लोगों ने जाकर देखा कि सुपरिंटेंडेंट के कमरे में खासी भीड़ लगी हुई है। मेज की उस ओर अपनी कुर्सी के आगे कैप्टेन दुबे खड़े हैं और इस ओर देवेंद्रजी; पं० श्यामलाल; डाक्टर शर्मा; शंकरा बाबू और न्यादर नंबरदार है। सुपरिंटेंडेंट की कुर्सी के पीछे जेलर है। ये सब लोग भी खड़े हैं।

हम लोग भी देवेंद्रजी और पं० श्यामलाल के पास जाकर खड़े हो गये। देवेंद्रजी के मामले पर विचार हो रहा था।

सुपरिंटेंडेंट ने मुझसे कहा, "मि० देवेंद्र शर्मा ने मुझे अभी बताया है कि उन्होंने आपके सामने मि० रमाशंकर से शिकायत के लिए कागज माँगा था और इस सिलसिले में कुछ और भी बातें आपके सामने हुई थीं। मैं यही जानना चाहता हूँ कि आपके सामने क्या बातें हुई थीं?"

मैंने शंकरा बाबू की ओर देखा। वह भी मेरी ओर देख रहे थे; मानों कह रहे हों; "हम दोनों साहित्यिक हैं; इस बात का ध्यान रखियेगा।"; तो भी मैंने वे सब बातें जो उनके और देवेंद्रजी के बीच मेरी उपस्थिति में हुई थीं; अक्षरशः सुपरिंटेंडेंट के सामने बयान कर दीं और इतना अपनी ओर से और कहा कि "हम सभी लोगों की राय में यह मामला बहुत संगीन है। अगर आप स्वयं इसमें यथोचित कार्यवाही नहीं कर सकते तो मुझे उम्मीद है कि आप देवेंद्रजी और इनके साथियों को किसी वकील से मश्वरा करने का मौका देंगे ताकि अगर अन्य कोई अदालती कार्यवाही हो सकती हो तो की जा सके। साथ ही पं० श्यामलाल का मामला भी ऐसा है कि उस पर गंभीर विचार की जरूरत है। शायद मि० मेहता ने आपसे उसका जिक्र किया होगा।"

कैप्टेन दूबे ने कहा, "हाँ; मि० मेहता ने मुझसे जिक्र किया था और मैंने इस मामले में भी कुछ पूछताछ की है। पं० श्यामलाल की यह शिकायत है कि न्यादर नंबरदार ने उनकी आँखों में टिंकचर आयोडीन डाल दिया और इसके बाद उन पर झूठा इल्ज़ाम लगाकर उनको कोठरी की सज़ा दे दी गयी। न्यादर नंबरदार का बयान है कि उसने उनकी आँखों में कोई दवा नहीं डाली; खुद डा० शर्मा ने ही दवा डाली थी। डा० शर्मा कहते हैं कि उन्होंने टिंकचर आयोडीन नहीं; बल्कि सही दवा डाली थी। हो सकता है कि पं० श्यामलाल को दवा कुछ तेज़ मालूम हुई हो और उन्होंने इसी से समझा हो कि टिंकचर आयोडीन डाला गया है। इस वक्त उनकी आँखों को देखकर यह अंदाज़ा करना बहुत मुश्किल है कि ४ रोज़ पहले टिंकचर आयोडीन डाला गया था या नहीं।"

चौधरी जगदीश्वर सिंह की त्योरियाँ चढ़ने लगी थीं। इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ; वह बोल पड़े,—"सुपरिंटेंडेंट साहब, आपको जेल के प्रबंध का काफ़ी अनुभव है। क्या आप यह बात नहीं जानते कि जेल का कोई कैदी और खास कर कोई नंबरदार जेल के किसी अफ़सर के खिलाफ किसी राजनैतिक बंदी के पक्ष में गवाही नहीं दे सकता? लेकिन मैं आपके सामने हल्फ़िया बयान करता हूँ कि डा० शर्मा और मि० शंकरा दोनों ने मेरे सामने पं० श्यामलाल की शिकायत को सही माना और मुझसे और शास्त्रीजी से इस मामले को दबा देने के लिए प्रार्थना की।"

मैंने इस बयान का समर्थन किया। कैप्टेन दुबे ने कहा, "मैं आप दोनों के बयानों को ध्यान में रखकर इस मामले को तय करूँगा। अब दूसरी बात यह है कि पं० श्यामलाल ने मि० मेहता का अपमान करने का इरादा जाहिर किया। मि० रमाशंकर कहते हैं कि उन्हें आप ही की बैरक के एक सम्मानित व्यक्ति द्वारा यह बात मालूम हुई।"

मैंने कहा, "यह बात बिलकुल गलत है। अगर इसमें ज़रा भी सचाई होती तो हम लोगों को जरूर मालूम होता। लेकिन जब कि हम ही लोगों में से किसी व्यक्ति के

हवाले से यह बात कही जा रही है तो उचित यह होगा कि आप उस सम्मानित व्यक्ति को भी यहाँ बुलावें।"

कैप्टेन दुबे ने कहा, "यह सूचना खुफ़िया तौर पर दी गयी थी और साधारणतः इस व्यक्ति का नाम जाहिर करना मुनासिब न होता। लेकिन अब यह मामला जहाँ तक पहुँच गया है उसको देखते हुए उनको बुला लेना ही ठीक होगा। जेलर साहब; मि० लक्ष्मीशरण को बुलवा लीजिए।" जेलर ने कहा, "हुजूर उनका तो यहाँ से ६ तारीख को ट्रांसफ़र हो गया।"

"हैं; ट्रांसफर हो गया! ६ तारीख को! लेकिन मि० शंकरा का तो बयान यह है—" कैप्टेन दुबे ने अपने सामने रखे हुए कागजों को उलट-पलटकर देखा—"कि मि० लक्ष्मीशरण ने ७ तारीख को यह सूचना दी। क्यों मि० रमाशंकर; आपने ७ तारीख ही कहा था न!"

शंकरा बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह अपने पैरों की ओर देख रहे थे।

कैप्टेन दुबे ने हम लोगों की ओर देखकर कहा, "अच्छा, अब आप लोग जायँ। मैंने सब मामला अच्छी तरह समझ लिया।"

हम लोग बाहर निकल आये।

एक सप्ताह बीत गया। लगभग १ बजा होगा। मैं दोपहर का खाना खाकर ज़रा लेटा ही था कि जमादार ने दफ़्तर से एक पर्चा लाकर मुझे दिया। मुझे मय मेरे सब सामान के तुरंत बुलाया गया था। पूछने पर मालूम हुआ किसी दूसरी जेल को तबादला है; पुलीस गार्ड फाटक पर माजूद है।

बंदी-जीवन में एक जेल से दूसरी जेल को रवानगी, विशेषकर जब इसका कुछ भी पूर्वाभास न हो तो बड़ी क्लेशमयी घटना बन जाती है। इतने समय तक इतने साथियों के साथ सुख-दुःखपूर्ण घनिष्ठ सहवास के बाद एकदम अनिश्चित स्थान को अनिश्चित काल के लिए जाने की तैयारी ऐसी लगती मानों यमराज का विकराल दूत घसीटकर लिये जाता हो। इस बीच में कुछ साथियों से विशेषकर ऐसा गहरा हार्दिक संबंध जुड़ गया था कि उनसे इस प्रकार बिछुड़ने के विचार मात्र से सारे शरीर में सन्नाटा-सा छा गया। साथ ही मन में अनेक और प्रश्न उठ रहे थे—कहाँ जाना है; कैसे आदमियों का साथ होगा; क्या-क्या नयी मुसीबतें उठानी होंगी! विषाद की एक गहरी छाया ने चारों ओर से घेर लिया था। पर चारा ही क्या था! मैंने इस प्रकार के सब विचारों को बलपूर्वक दबाने का प्रयत्न किया और अपने चेहरे पर कृत्रिम अनासक्ति का भाव लाकर तुरंत खड़ा हो गया।

मेरे जाने की खबर बिजली की तरह सारी बैरक में दौड़ गयी। क्षण भर में सब लोगों ने मुझे आकर घेर लिया। मुझे इस प्रकार अकस्मात् क्यों भेजा जा रहा है; इसी

पर सब लोग अपना-अपना अनुमान प्रकट करने लगे। बहुमत इसी पक्ष में था कि मैंने जो शंकरा बाबू की शिकायत की थी उसी के दंडस्वरूप और उससे जो कांड उपस्थित हो गया था उसको दबाने के लिए मुझे भेजा जा रहा है और अब जेल-अधिकारियों की ओर से किसी संतोषजनक कार्यवाही की आशा करना व्यर्थ होगा। मुझे भी यही बात युक्तिसंगत लगी। कुछ लोगों ने आग्रह किया कि मैं यह सारा वृत्तांत समाचार-पत्रों में देने की कोशिश करूँ। कुछ ने अपने निजी संदेश दिये और अपने-अपने घरों को पत्र लिखने के लिए कहा। पर यह सब मैं मुश्किल से ही सुन और समझ पा रहा था। मेरा ध्यान उधर नहीं था। यह कहना कठिन है कि मेरा ध्यान कहाँ था। क्योंकि मुझे अपना सामान ठीक करना भी दूभर हो रहा था। अतः यह अच्छा ही हुआ कि यह सब काम कुछ साथियों ने मिलकर जल्दी से कर डाला और मुझे सब मित्रों से अलग-अलग विदा होने और बातचीत करने का समय मिल गया।

इस बीच में दो बार तकाजा आ चुका था। आखिर मैं सारी भीड़ के साथ हाते के दर्वाजे की ओर चल पड़ा। दर्वाजे पर पहुँचकर एक बार फिर सबसे विदा हुआ। कुछ मित्रों की आँखें गीली हो रही थीं। उनकी ओर देखकर मुझे भी अपने आपको सँभालना मुश्किल हो गया था। अतः मैं दर्वाजे पर अधिक नहीं ठहरा और बिना पीछे देखे तेजी के साथ जेल के फाटक की ओर चल दिया।

दफ़्तर में पहुँचने पर मेरा सामान देखा गया कि उसमें कोई निषिद्ध वस्तु तो नहीं है। मैंने अपना हिसाब समझा कई कागजों पर हस्ताक्षर किये और जेलर साहब से कुछ साधारण बातचीत हुई। ये सब काम मैं कुछ ऐसे यंत्रवत् करता गया कि कहाँ क्या हो रहा है; इसका मुझे पूरा ज्ञान ही नहीं था। आखिर पुलीस के दो रक्षकों के साथ स्टेशन पहुँच गया। गाड़ी आने में कुछ देर थी। कोई परिचित व्यक्ति भी दिखाई नहीं पड़ रहा था। मैंने उस तारीख का हिंदुस्तान टाइम्स खरीदा और एक बेंच पर बैठकर पढ़ने लगा।

लगभग एक घंटे बाद गाड़ी आयी। एक इंटर क्लास के डिब्बे में मेरा सामान रखा गया। मैं अभी बाहर ही खड़ा था और उस सुपरिचित स्टेशन की ओर देखते हुए मन ही मन सोच रहा था कि देखिए; फिर कब इसके दर्शन होते हैं। इतने ही में शंकरा बाबू दो स्त्रियों और दो बच्चों के साथ पुल से उतरते हुए नजर आये।

मेरे पास पहुँचते ही उन्होंने बड़े तपाक से कहा, "शास्त्रीजी; नमस्ते। मैं अभी आता हूँ।" यह कहकर वह जनाने डिब्बे की ओर बढ़ गये और उसमें स्त्रियों और बच्चों को बिठाकर और अपना सब सामान रखकर दौड़ते हुए मेरे डिब्बे की ओर आये। गार्ड की सीटी बज चुकी थी। मैं डिब्बे में बैठ गया था और खिड़की से बाहर झाँक रहा था। मैंने उन्हें देखकर दर्वाजा खोल दिया।

शंकरा बाबू हाँपते हुए अंदर घुसे और मुस्कराकर कहने लगे, "मैं आपको धन्यवाद देता हूँ; शास्त्रीजी ! अगर आपने उस दिन मेरी शिकायत न की होती तो इस नारकीय जीवन से मुझे छुटकारा न मिलता। मैं मुअत्तल तो उसी दिन हो गया और आज बर्खास्तगी का हुक्म भी आ गया। बड़े सौभाग्य की बात है कि आज आपका साथ भी हो गया। आपको बहुत-बहुत धन्यवाद।"

यह बड़ा विचित्र धन्यवाद था। मैंने जीवन में पहली बार धन्यवाद पाकर संकोच का अनुभव किया। मुझे उनसे हाथ मिलाते हुए यही कहते बन पड़ा; "आइये; पहले बैठिये तो। यदि आप यह बात व्यंग से नहीं कह रहे हैं तो मैं भी आपको बधाई देता हूँ।"

"व्यंग !" शंकरा बाबू ने बैठते हुए उत्तर दिया; "यह भी आपने क्या बात कही ! मैं सच कहता हूँ कि मैं आपका अहसान कभी नहीं भूल सकता। और हाँ; अब तो वह कविता भी आपको अवश्य सुनाऊँगा।"

मैंने पूछा; "भग्न हृदय ?"

शंकरा बाबू ने कहा, "हाँ।" और अपनी वही छोटी-सी नोट-बुक जेब से निकाल ली।

इसी समय एंजिन ने सीटी दी और गाड़ी चल पड़ी।

मैथिलीशरण गुप्त

योजन-गंधा

पूज्य ययाति पिता के वर से हुई पुत्र पुरु की कुल-वृद्धि
और आप यदु ने भी पायी आभिजात्य के साथ समृद्धि।
उपजे भरत भूप पुरुकुल में बना उन्हीं से भारतवर्ष
कर अवतरित आप श्री हरि को पाया यदुकुल ने उत्कर्ष।
परे कृष्ण से और कौन है जिसको कोई जाति जने?
पुरुकुल में कुरु जनमे जिनसे पौरव कौरव वीर बने।
महाराज शांतनु से कुरुकुल हुआ और मानी-दानी,
देवव्रत-सा कुलधन जिनका गंगा-सी जिनकी रानी।
सब राजों ने मिल शांतनु को चुना राज-राजेश्वर-रूप
हुए चक्रवर्ती समद्र तक वे अशेष भारत के भूप।
जन कर देवव्रत-से सुत को धन्य हुई गंगा भी आप
हरती है जो शरणागत के सारे पाप-शाप-संताप।
उसके आत्ममग्न होने पर होकर शांतनु आर्त्त-अधीर
उदासीन हो घूमा करते एकाकी यमुना के तीर।
गंगा-तीर-समान भाग्य से यमुना-तट भी उन्हें फला—
लेकर दिव्य सुगंधि एक दिन शीतल मंद समीर चला,
चौंक पड़े वे उसे सूँघकर हुई ऊँघ-सी उनकी दूर
फिर भी स्वप्नाविष्ट सदृश वे बढ़े मोद के मद में चूर।
खिलती हुई कली-सी आगे दीख पड़ी योजनगंधा—
हुआ निमेष मात्र में उनका मोहित मनोमधुप अंधा।
धीवर-सुता मत्स्यगंधा थी योजनगंधा ऋषि-वर से;
रमणी-मणि तो सदा ग्राह्य है ऐसे-वैसे भी घर से!
लायी थी धारा-विरुद्ध वह खेकर छोटी-सी तरणी
थी भ्रम से उद्दीप्त और भी तप्त स्वर्ण-शोभा-भरणी,

उठते अंग साँस बढ़ने से हिलकोरे-से लेते थे
स्वेद-विंदु माथे के मोती भाग्य-सूचना देते थे;
लंबा बाँस लिये थी कर में निज विजय-ध्वज दंड यथा
चली चलाने को प्रभाव से मानों कोई नयी प्रथा!
जल-पट पर अरुणातप-रेखा उसका चित्रण करती थी,
वह श्रम विफल देखकर बाला मुसकाती मन हरती थी।
अलकें वा यमुना लहरों से सूँघ रही थी सिर उसका,
भोले मुख पर खेल रहा था बाल-भाव अस्थिर उसका;
खड़ा कछोटा किंतु कँधेला पड़ा-पड़ा उड़ चलता था
गोरे बाहु-मूल में यौवन फूल-फूलकर फलता था।
"शुभे; कौन तुम? पली प्यार से सुख से खायी-खेली हो,
अद्भुत सुरभि भरी फूली-सी कल्पवृक्ष की वेली हो,
भोली-भाली कुछ अल्हड़-सी निर्मल नयी-नवेली हो,
क्रीड़ा-तरी लिये निर्जन में डरती नहीं अकेली हो।"
"जय हो श्रीमन्; सत्यवती मैं; दास-राज हैं मेरे तात;
राज्य हमारे राजा का है; कहिए फिर डर की क्या बात?"
"क्या वस्तुतः तुम्हारा राजा ऐसा धीर-धुरंधर है?"
"अधिक क्या कहूँ; भू पर वह है ऊपर सुना पुरंदर है।"
"पर कहते हैं; वह रानी के बिना रह गया है आधा।"
"मिले कहाँ गंगा-सी रानी; यह तो है विधि की बाधा।"
"चाहे तो कर सकती है अब यमुना ही गंगा की पूर्त्ति
सुतनु; दीख पड़ती है तुममें मुझे उसी की मंजुल मूर्त्ति।
लज्जा ललनाओं की भूषा ऊषा की ज्यों अरुणाई,
समधिक साहस भरी किंतु है निडर तुम्हारी तरुणाई;
ठीक कह रहा हूँ मैं तुमसे; मुझे राजजन ही जानो—
चाहो तो तुम सुमुखि; आपको अभी महारानी मानो।
देख रहा हूँ अहा! रूप-रस शब्द सुन रहा हूँ मैं आप,
दिव्य गंध का क्या कहना है; फैल रहा ज्यों कीर्ति-कलाप;
सीधा न हो; पवन के द्वारा मृदु स्पर्श भी जान लिया—
क्या बनायँगे हम; विधि ने ही तुमको देवी बना दिया।
बोलो; नत मुख से ही बोलो; अधिक नहीं बस हाँ भर दो—
विरह-विरस अपने राजा को फिर से हरा-भरा कर दो।"

"चिर मंगल हो माननीय का दासी है पितुराज्ञाधीन।
बिटिया रानी कहलाकर ही क्या कृतकृत्य नहीं यह दीन।"
"लो मिल जाय चरित परिचय भी; सब प्रकार है यह शुभ कार्य—
कुल से नहीं; शील से ही तो होता है कोई जन आर्य।"
"यह औदार्य आर्य का; पर मैं मत्स्योदरी दासकन्या
नया जन्म-सा दिया पराशर मुनि ने मुझे किया धन्या।"
"अस्तु रात होने को है अब चलो तुम्हें पहुँचा आऊँ—
असमय ठौर-कुठौर अकेली छोड़ स्वयं कैसे जाऊँ?"
"अनुगृहीत मैं; करें न मेरे लिए कष्ट-चिंता श्रीमान,
जल तो मेरे लिए गृहस्थल और बनानी विपणि समान।"

पर दिन दास-राज से मिलकर मंत्री ने उद्देश्य कहा
भाल संकुचित कर कुछ क्षण तक वृद्ध सोचता मौन रहा।
फिर बोला—"अपराध क्षमा हो; किसे न हो संतति का ध्यान,
सत्यवती रानी होगी; पर क्या होगी उसकी संतान?"
भौंह चढ़ाकर कहा सचिव ने, "दास न होगी वह तुझ-सी।"
"प्राप्त परंतु उसे होगी क्या घर की प्रभुता भी मुझ-सी।"
"देवव्रत जैसे कुमार को करें राज्य-वंचित हम लोग?"
"नहीं-नहीं; वे धर्म-धुरंधर भोगें सदा राज-सुख-भोग,
मेरा नाती भी स्वराज्य से वंचित न हो; यही विनती;
होगा क्या नगण्य वह भी यदि नहीं कहीं मेरी गिनती?
देवी होने योग्य नहीं किस नृप की सत्यवती मेरी?
यों समर्थ है आप; बना लें बल-पूर्वक उसको चेरी।"
"बल दिखलाते होते हम तो तू यह बात नहीं कहता,
अहो भाग्य निज मान हमारे इंगित का अनुगत रहता;
प्रजा न होकर राजा होता फिर भी तू नाहीं करता
तो मैं भी याचना न करके बल से ही वह मणि हरता।
छोड़ स्वार्थवश देवव्रत-सा प्रस्तुत निज दुर्लभ युवराज,
धिक है तुझे; देखता है तू बाट दूर भावी की आज;
चुप दुःशील! दुष्ट निज जन भी दंडनीय मेरे मत में
फिर भी पहले उनकी आज्ञा ले लूँ जिनका अनुगत मैं।"

कुपित अमात्य गया; धीवर चुप सिर खुजलाता खड़ा रहा
इधर-उधर देखा फिर उसने और आप ही आप कहा—
"भूप भोगिनी भिक्षुक की भी भार्या को पा सकी कहीं ?
स्वार्थ-हानि में ही परार्थ है; सब परार्थ परमार्थ नहीं।"
सुनकर मंत्री से सब बातें शांतनु ने ली लंबी साँस,
फिर कराहते-से बोले वे; गड़ी हृदय में जैसे गाँस,
"राजनीति की घात नहीं यह है सीधी सामाजिक बात,
मेरा जो हो; पाय न मेरी प्रजा हाय बाधा-व्याघात।
धीवर को अधिकार; करे वह किसी पात्र को कन्यादान।
राज्य करे देवव्रत मेरा; मरूँ भले मैं अगति-समान;
बार-बार जनती है कोई जननी क्या ऐसी संतान
करती जाय जगत में जनता युग-युग जिसके गुण का गान।"

सहने लगे छिपाकर अपना मनस्ताप शांतनु चुपचाप,
किंतु खोजनेवालों से क्या छिपा रहा ईश्वर भी आप ?
ज्ञात हो गयी देवव्रत को उनकी विषम विरह-बाधा
जिसने दो दिन में ही चुनकर कर डाला उनको आधा।
संग लिये कुछ प्रमुख जनों को धीवर के घर गये कुमार,
भय से सूख और भी मानों कड़ा पड़ गया वह इस बार।
"डरो न दास-राज; तुम मेरे आव; आज गुरुजन बन जाव;
मेरी भी पितृ-भक्ति प्रभावित देख तुम्हारा वत्सल-भाव।
भाई-सा भाई पाने को किसे न होगा कब क्या त्याज्य ?
मैं अपने भावी भ्राता के लिए छोड़ता हूँ निज राज्य।"
सहम गया धीवर लज्जित-सा धीरे-धीरे वह बोला
"अहा! कह गया किस लघुता से महद्वचन श्रीमुख भोला।
किंतु—"न बोल सका वह आगे सिर नीचा कर खड़ा रहा :
"कहो-कहो; संकोच छोड़कर यों चुप क्यों हो गये अहा!"
"श्रीमन्; क्योंकर कहूँ बात वह सत्य किंतु अप्रिय-अनुदार
प्रकट करेंगे क्या न आपके आत्मज भी अपना अधिकार!"
"करना तो न चाहिए; फिर भी कौन कहे आगे की बात ?
मैं इसका भी यत्न करूँगा; कुछ चिंता न करो तुम तात!

परिजन शांत रहें; साक्षी हों देश-काल जल-वायु समर्थ
निज राज्याधिकार तजता हूँ मैं भावी भ्राता के अर्थ।
बाधक बने न आगे जिसमें कोई औरस अविचारी,
मैं विवाह भी नहीं करूँगा; बना रहूँगा व्रतधारी।"

भीष्म-भीष्म कह उठे देव-नर; वे शोभित ही हुए विशेष,
देता जाता है श्रद्धांजलि उन्हें आज भी उनका देश।
शांति गयी, शांतनु की यद्यपि योजनगंधा घर आयी
वे रो पड़े—"पुत्र-बलि देकर मैंने नवपत्नी पायी।
प्रजा पालता रहा प्यार से रहकर यदि मैं राज्यासीन
तो हो स्वयं काल भी मेरे देवव्रत का इच्छाधीन।"

———

चंद्रकुँवर बर्त्वाल

यम

१

सुनता हूँ गूँज रही महिष-कंठ किंकिणी
मेरे उर-देश में
हे यम; जम गयी दृष्टि आँखों में देखकर
तुमको इस वेष में !
हाथों में कठिन पास; आँखों में आग-सी
अलकों में तम भरा
वाहन यह काल-महिष जिसकी पद-चाप से
हिलती व्याकुल धरा !
मेरी हो रही लुप्त अंगों में चेतना
मूर्च्छा-सी छा रही
मेरी ही ओर शनैः छाया यह आ रही।

२

तुझको तज छिपी आज पृथ्वी तम-गर्भ में
उठ ओ नादान मन
आँखों में अश्रु पोंछ एकाकी विश्व में
अब तू दृढ़-प्राण बन
डर मत ओ दीन हरिण; नखरों में व्याघ्र के
अपना सिर डाल दे
बचने की राह नहीं होने दे सत्य अब
अक्षर कटु भाल के !
आये हैं मृत्यु-देव द्वारों पर; शंख में
स्वागत के स्वर भरो
महा-अतिथि-चरणों का सिर दे पूजन करो !

३

चुनने को एक म्लान मिट्टी के फूल को
आये प्रभु आप ही
करने को नष्ट एक तृण को लाये शिखा
ज्वलित वज्र-ताप की
पीने को एक क्षुद्र जीवन के स्रोत को
महार्णव स्वयं चले
और राह जिस उर ने देखी नित आपकी
नील नभ के तले—
उसे विजित करने को; आये हैं आप ले
संख्यातिग वाहिनी
गाता मैं आर्द्र-कंठ स्वागत की रागिनी

४

जीवन के अर्थ-हीन स्वप्नों की रात के
उज्ज्वल-तन प्रात हे
द्विधा-द्वंद्व सुख-दुख की लहरों पर डोलते
निर्मल जल-जात हे
सत्यों के परम सत्य; मौनों के मौन हे
सागर चिर-शांति के
हे सुरम्य अस्ताचल पृथ्वी पर चल रहे
भाग्यों की कांति के !
मूलों पर बिखर फूल वृंतों से छूटकर
फल तुमको जानते
आनत हो स्वर्ण शस्य तुमको पहचानते।

५

विवस्वान के सुपुत्र बंधु यमी बहन के
पितरों के प्रथम हे
मर करके प्रथित किया तुमने इस विश्व में
मरने का नियम हे !
खोले तुमने कपाट उस प्रपूर्ण शांति के
क्लांत विश्व के लिए

पाते जिसमें प्रवेश भले-बुरे सभी जो
जग ने पीड़ित किये !
उज्ज्वल ऋषि; दिग्विजयी शोभन सम्राट-गण
इसी राह सब गये
इसी राह जीवित सब जगती के चल रहे !

६

सोचूँ मैं क्यों ?—कि बुरा होगा वह देश तुम
करते शासन जहाँ।
सोचूँ मैं क्यों ?—कि तिमिर होगा उस लोक में
तुम हो पावन जहाँ।
नभ में घिरते न मेघ; पलकों पर नींद की
छाया पड़ती नहीं
अमर-लोक वहाँ सब होते हैं अपाप; आयु
घटती-बढ़ती नहीं।
नर है अतिशय विमूढ़ दुखमय संसार से
करता है मोह जो
पीता विष नित्य; अमृत से करता द्रोह जो।

७

तुमसे भय हुआ मृत्यु मुझको; इसके लिए
मुझको तुम दो क्षमा
आता हूँ साथ तुम्हारे मैं संसार से
चिता-भस्म को रमा
जीवन की चाह नहीं मुझको अब मृत्यु से
मरने का भय नहीं
करती है मृत्यु सदा जीवन को पूर्ण ही
इसमें संशय नहीं।
कष्टों से म्लान-वर्ण पृथ्वी को छोड़ मैं
जाता उस लोक में
शास्ता यम; जहाँ नहीं कोई भी शोक में।

सत्येंद्र शरत्

तार के खंभे

['समाज सेवक संघ' के ऑफिस का एक कमरा। कमरे में एक दूसरे के ठीक सामने दो दर्वाज़े हैं। अन्य दीवारों की अपेक्षा कमरे की पिछली दीवार भली-भाँति दिखायी देती है, जिस पर हल्के रंगों से एक चित्र अंकित है। चित्र में नीला आकाश सफेद बादलों और कुछ उड़ते हुए पक्षियों के साथ दर्शाया गया है। बीच में एक तार का खंभा तारों से बिंधा हुआ; तिरछे रूप में खड़ा है। ऐसा प्रतीत होता है कि दीवार का यह चित्र पहले किसी ने रेल में सफर करते हुए तिरछे 'एंगिल' से कैमरे द्वारा खींचा है और फिर सफलतापूर्वक उसे दीवार पर उतार दिया है। दीवार पर घड़ी बारह बजा रही है।

कमरे में उतना ही सामान है जितना कि इस प्रकार के ऑफिसों में होता है। बायें दर्वाज़े के पास तीन टीन की कुर्सियाँ और एक मेज़ है; मेज़—जो फाइलों और रजिस्टरों के बोझ से तो नहीं; किंतु अपने ही बोझ से लदी हुई तथा क्लांत प्रतीत होती है। उन कुर्सियों पर दो दुबले-से नवयुवक बैठे हुए समाचारपत्र पढ़ रहे हैं। एक चश्माधारी नवयुवक दाहिने कोने में कैंची और लेई की सहायता से अख़बारों की विशेष कतरनें फाइल में चिपका रहा है। चौथा नवयुवक—जिसने एक आधी आस्तीन की कमीज़ और पतलून पहन रखी है—कमरे के मध्य में स्टैंड पर एक चित्र बनाने में व्यस्त है। उसने स्टूल पर अपना बायाँ पैर रख रखा है। बायें हाथ में रंगों की प्लेट है और दाहिने में तूलिका।

कमरे के दाहिने कोने में एक सुराही क़लईदार लोटा और निकट ही एक झाड़ू भी उपेक्षापूर्वक रखा हुआ दीख पड़ता है।

अख़बार पढ़नेवाले महाशयों में से एक, जिनके हाथ में बेंत की एक पतली लखनवी छड़ी है, उठकर बुरी तरह जम्हाई लेते हुए युवक चित्रकार के निकट आते हैं।]

छड़ीवाले महाशय—हैलो अनुपम!

अनुपम—(मुड़कर पीछे देखकर) अक्खा तिवारीजी हैं। कहो भई कब आये? आज एक अरसे के बाद दिखलायी पड़ रहे हो।

तिवारी—(छड़ी घुमाते हुए) मैं जिस समय आया था उस समय तुम चित्र बना रहे थे। मैंने तुम्हारी तल्लीनता में आघात पहुँचाना उचित न समझा। चुपचाप अख़बार पढ़ने लग गया। अब तुम्हारा काम ख़तम-सा होता देखकर तुम्हें डिस्टर्बित करने आ गया। ('ही ही' कर हँसता है)

अनुपम—(तूलिका चलाता हुआ) काम ख़तम होता देखकर ? हुँ (व्यंगपूर्वक) चित्रकला के संबंध में, (रुककर) देखता हूँ, आपका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा है...

तिवारी—(खिसियायी हँसी हँसकर) हें हें...अरे कहाँ भाई !...हमसे तो प्रत्येक कला कोसों दूर है...(तनिक चुप रह) तो कब तक पूरा हो जायगा यह चित्र ?

अनुपम—(हँसता है; जैसे तिवारी का उपहास कर रहा हो) बड़ा विचित्र सवाल है।

तिवारी—(खिसियाकर) क्यों क्या बात विचित्र है ?

अनुपम—चित्र कब पूरा होगा—इस विषय में मैं क्या कह सकता हूँ ? ईश्वर अवश्य कह सकता है—यदि उसका अस्तित्व है तो।

तिवारी—(परेशानी से) क्या मतलब ?

अनुपम—(हाथ फैलाता हुआ) मतलब यह कि मैं कोई निश्चित तारीख नहीं दे सकता कि उस तारीख़ को यह चित्र समाप्त हो जायगा। हो सकता है, यह दो हफ़्ते और ले, या यह भी हो सकता है कि यह महीनों तक चले।

तिवारी—(लज्जित-सा) हाँ हो सकता है।

अनुपम—और इसका भी मतलब यह है कि चित्रकार की दृष्टि में उसका चित्र सदैव ही अपूर्ण और अधूरा रहता है। हर बार उसे अपनी रचना में कोई न कोई कमी या खटकनेवाली वस्तु दीख पड़ती है और वह उसे ठीक करते समय यही सोचता है कि चित्र अभी अधूरा है। उसे पूरा होने में अभी और समय लगेगा। (ठहरकर) अंत में एक दिन ऐसा आ जाता है कि वह ऊब उठता है और कह देता है कि उसका चित्र पूरा हो गया है यद्यपि वह स्वयं जानता है कि यह झूठ है और वह लोगों के साथ अपने को भी धोखा दे रहा है। (रुककर तिवारी के कंधे पर हाथ मार मुस्कराते हुए) समझे जी तिवारी महाशय। (फिर रुककर) हटाओ जी इन बातों को। असली बात तो आप छोड़ ही बैठे। कहाँ रहे इतने दिनों तक ? बहुत दिनों बाद आये हो।

तिवारी—(हँसता हुआ-सा) हाँ sss। पूरे एक माह बाद आया हूँ। लेकिन मैं तो प्रधान-जी से कहकर गया था, (तनिक ठहरकर) मैं क्या गया था, बल्कि उन्होंने ही मुझे भेजा था। उन्होंने क्या कहा नहीं ?

अनुपम—नहीं तो। इस संबंध में कभी बात तक भी नहीं हुई। हाँ एक दिन प्रधानजी यह अवश्य कह रहे थे कि संघ के कार्यकर्त्ता आजकल इधर-उधर बिखरे हुए हैं इस कारण यहाँ का काम बहुत ढीला पड़ रहा है। रशीद और दिवाकर भी लगभग दो-तीन हफ़्तों से ऑफिस से गोल हैं। शायद वे भी कहीं बाहर गये हुए हों।

तिवारी—दिवाकर की बाबत तो मैं जानता हूँ। उसका एक पत्र आया था। वह अपने ससुर की आँख का ऑप्रेशन करवाने दिल्ली गया हुआ है। वहाँ शायद वह श्रद्धानंद अनाथाश्रम की रिपोर्ट तैयार कर रहा होगा। इस तरह एक पंथ दो काज हो गये। (खिसियायी-सी हँसी हँसता है)

अनुपम—(कुछ व्यंग से) एक पंथ दो काज ठीक है। और आप कहाँ गये थे ? (अकस्मात) माफ कीजियेगा, कहाँ भेजे गये थे।

तिवारी—(सफाई-सी देता हुआ) अख़बार में तो पढ़ा ही होगा। पिछले महीने, देहरादून में रिस्पना के किनारे बसे हुए चमारों के झोपड़ों में भीषण आग लगी थी। आध मील की तमाम बस्ती राख हो गयी थी। सभी सेवा-समिति आदि के प्रतिनिधि वहाँ गये थे। अपने संघ की ओर से मैं वहाँ गया था। (कुछ काँपकर) ओफ ! बहुत 'पिटियेबल साइट' थी। उन लोगों का रोना-धोना—उन लोगों की बेबसी—ओफ ओ ! (अनुपम को सोचते हुए देख) घर में चोर आता है तो सब कुछ नहीं ले जाता, कुछ न कुछ तो छोड़ ही देता है; पर घर में आग लगती है तो कुछ भी चीज नहीं बचती—सोने के लिए फटी गूदड़ी तक नहीं, पानी पीने के लिए टूटी कटोरी तक नहीं। (तनिक चुप रहकर) हम लोगों ने वहाँ कई मीटिंगें कीं, दिल पिघलानेवाले भाषण दिये। जनता से रुपया इकट्ठा किया। राशनिंग ऑफिस से उन बेचारे मुसीबतज़दों को अनाज दिलवाया...तुमने तो यह सब पेपर में पढ़ा ही होगा। निकला तो था...मेरा नाम भी था।

अनुपम—(बात अनसुनी कर) तिवारीजी महाशय, आपकी ससुराल भी शायद देहरादून में ही है ?

तिवारी—(सिर हिलाकर हिचकिचाते हुए) हाँ है तो। लेकिन...

अनुपम—(बात काटकर) और आप शायद इस बार अपने साथ अपनी श्रीमतीजी को भी यहाँ ले आये हैं जो शायद एक लंबे अरसे से मायके में थीं (तिवारी को कुछ भी कहने का अवसर न देता हुआ) और शायद जिनकी मौजूदगी की सख्त ज़रूरत आप काफी समय से अनुभव कर रहे थे।

तिवारी—(अपनी आवाज़ में आश्चर्य के साथ कुछ कठोरता लाते हुए) मिस्टर अनुपम-आप क्या कह रहे हैं ?

अनुपम—(स्टूल पर पैर रखता हुआ) जो आप सुन रहे हैं। (तनिक ठहरकर) आप शायद यह बातें सुनना नहीं चाहते थे। आप चाहते थे कि मैं आपको आपकी समाज-सेवा के लिए बधाई दूँ। आपकी पीठ थपथपाऊँ। आपकी प्रशंसा करूँ—जैसी कि हम सबकी आदत है। और आप मन में खुशी के मारे कुप्पा होकर,

किंतु प्रकट में अत्यंत नम्र बनकर कहें—(नकल करता है) 'अजी मैं किस लायक हूँ ? सब आपकी कृपा है। अजी यह तो मेरा कर्त्तव्य था। मैंने तो अपना तमाम जीवन समाज-सेवा के लिए ही दे दिया है।' (रुककर) माफ कीजियेगा, आपके ही एक सहयोगी कार्यकर्त्ता की हैसियत से मैं यह झूठी 'एक्टिंग' नहीं कर सकता।

तिवारी—(बौखलाये-से) मिस्टर अनुपम, तुम...तुम्हारा दिमाग़ इस समय ठीक नहीं है। ख़ासी बहकी बातें कर रहे हो। मैं प्रधानजी से यह सब कहूँगा।

[अख़बार पढ़नेवाले नवयुवक और चश्माधारी—तीनों ही—चौंककर इन दोनों के पास आ जाते हैं और तिवारी को पीछे ले जाते हैं जो कि शायद इसके लिए तैयार ही है। तिवारी को कुर्सी पर बैठाकर अख़बारवाले युवक अख़बार द्वारा तिवारी को हवा करते हैं। चश्माधारी नवयुवक अनुपम की ओर बढ़ता है।]

अनुपम—(तिवारी को देखता हुआ) दिवाकरवाली बात ठीक यहाँ पर भी है...एक पंथ दो काज...(चेहरे पर व्यंग-मुस्कान।)

चश्माधारी—(बंगला टोन में) 'बी क्वायट' अनुपम! आज इतने 'फ़्युरियस' क्यों हो रहे हो ?...'ह्वाट इज़ द मैटर ?'

अनुपम—(शांतिपूर्वक) 'नथिंग' हाल्दार। आज कुछ ऐसी बातें कह डालीं जिन्हें कहने के लिए बहुत दिनों से सोच रहा था।

हाल्दार—(न समझते हुए) क्या बोला तुमने ?

[अनुपम कोई उत्तर न देकर निर्विकार भाव से फिर चित्र बनाने लग जाता है। तिवारी महाशय बीच में मुड़-मुड़कर अनुपम की ओर देख लेते हैं। हाल्दार अपनी जगह पर लौट आता है और अख़बार की कतरनें बटोरने लगता है। कुछ मिनट इसी प्रकार शांति से व्यतीत होते हैं।

सहसा एक नवयुवक का कुछ अख़बार लिये हुए प्रवेश। वह खद्दर की धोती-कुर्ता पहने हुए है। चेहरे और गले पर पसीने की बूँदें। अख़बारों को वह ज़ोर से मेज़ पर पटकता है। इस खटके से चौंककर कमरे के चारों व्यक्ति अपना सिर उठाते हैं। अनुपम के अतिरिक्त तीनों फिर बुझी लाजवंती की भाँति अपना सिर झुका लेते हैं। अनुपम को एकटक अपनी ओर देखता हुआ पाकर वह युवक अनुपम की ओर बढ़ता है।]

युवक—(उँगली से माथे का पसीना पोंछते हुए) उफ़्फो ऽऽ, थक गये हम तो। गर्मी ने अलग मार दिया। तुम्हीं मज़े में हो भाई। कम से कम साये में तो बैठे हो।

अनुपम—(उसी की ओर देखता हुआ) क्यों-क्यों। ख़ैरियत तो है ? क्या फावड़े बजाकर आ रहे हो ?

युवक—उससे भी कहीं ज्यादा। (ज़रा चुप रहकर) आज काम पूरा करके ही आया हूँ। कई दिन हो गये थे दौड़ते-दौड़ते।

अनुपम—(माथे पर सवा दो बल डालकर) क्या काम?

युवक—अरे वही पुस्तकालय वाला। आज साप्ताहिक 'बिजली' में अनाथ बच्चों के लिए किताबों की अपील निकलवा ही दी है। वैसे दैनिक 'संसार' में तो उस दिन शाम के एडिशन से ही अपील निकलनी शुरू करवा दी थी जिस दिन प्रधानजी ने अनाथालय में बच्चों को उस पुस्तक के लिए धक्का-मुक्की और गाली-गलौज करते हुए देखा-सुना था। (तनिक ठहरकर) और किताब क्या थी भला वह "बाल रघुवंश।"

अनुपम—(चुप है जैसे उसकी बातों की मीमांसा कर रहा हो)

युवक—(अनुपम को चुप देख) वैसे कोशिश तो यह भी कर रहा था मैं कि किताबों की अपील संपादकीय नोट के साथ मासिक 'जागृति' में भी निकल जाय। इस सिलसिले में 'भ्रमर'जी से भी मिला था। बेचारे 'पेपर कंट्रोल' के कारण अपनी विवशता प्रकट कर रहे थे। कह रहे थे कि पत्रिका पहले ही बत्तीस पन्नों की जा रही है उसमें तो ज़रा सी भी गुंजाइश नहीं है। (तनिक चुप रह) आदमी बहुत सज्जन हैं। अपना तमाम समय सार्वजनिक सेवाओं में ही लगाते हैं। बहुत सहानुभूति प्रकट कर रहे थे बेचारे किताबों के उन इच्छुक व शौक़ीन बालकों के वास्ते। यह भी कह रहे थे कि बच्चों के वास्ते किताबें तो उनके प्रेस में भी पड़ी होंगी—समालोचना आदि के लिए आ जाती हैं न—परंतु उनका ढूँढ़ निकालना बहुत ही कठिन होगा।

अनुपम—(व्यग मुस्कान के साथ) हूँ, बहुत दयालु और करुण हृदय हैं तुम्हारे संपादकजी। शायद जेल भी हो आये होंगे एक दो बार।

युवक—हाँ शायद सन बयालीस के आंदोलन में जेल भी हो आये हैं।

अनुपम—(व्यंगपूर्वक) हाँ, सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं और नेताओं के लिए यह वस्तु भी बहुत आवश्यक है।

युवक—(चकित-सा होकर) जेल जाना आवश्यक है। क्यों? क्या मतलब है तुम्हारा इससे?

अनुपम—तुम मतलब नहीं समझ सके? जब यह इतनी गूढ़ बात है तो हटाओ इसे। (सहसा विषय पलटकर) हाँ, देखें ज़रा तुम्हारी साप्ताहिकवाली अपील।

युवक—(प्रसन्न होकर) हाँ, अभी लो। (मुड़ता है और मेज़ पर से अख़बार खोलकर लाता हुआ) अपील बहुत प्रभावशाली और हृदयस्पर्शी है। बहुत दिमाग़ ख़र्च

करना पड़ा है मुझे इसे लिखने में। (अख़बार अनुपम को थमाता हुआ) एक पूरी रात जागरण किया गया है इसके लिए। (मुख पर गर्वमुद्रा)

अनुपम—(पढ़ता है) "आपसे एक नम्र निवेदन—आपके अनाथ बालक, आप लोगों के भरोसे किताबों के लिए तरस रहे हैं—उन निस्सहाय बालकों को मत भूलिए। सर्वसाधारण इस बात से अभिज्ञ होंगे कि बालकों को पुस्तकें पढ़ने का बहुत चाव होता है, किंतु सामयिक परिस्थितियाँ कुछ ऐसी विकृत हो गयी हैं कि आज के अनाथ बालकों को पुस्तकावलोकन की अंतःकरणीय वृत्ति स्थगित कर रखनी पड़ रही है। अनाथालय में बालकों के पढ़ने योग्य पुस्तकें न्यून संख्या में हैं, जब कि बालकों की संख्या प्रति वर्ष बढ़ रही है। बालकों के उत्कट पुस्तक-प्रेम को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि उनके लिए एक सुंदर पुस्तकालय स्थापित किया जाय, जिनसे उनके ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि हो। इसका एकमात्र साधन पुस्तकें ही हैं। अतएव आप लोगों से प्रार्थना व आशा की जाती है कि आप धन अथवा पुस्तकों द्वारा पुस्तकालय स्थापित कराने में हमारी पूरी सहायता करेंगे तथा अनाथों की सहायता और विद्या-प्रसार व प्रचार के पुण्य अनुष्ठान में भागी होकर अपने उन मातृ-पितृहीन बालकों का भविष्य उज्ज्वल बना देंगे।...जो सज्जन पुस्तकालय की स्थापना के लिए सहायता प्रदान करना चाहते हैं वे कृपया 'समाज सेवक संघ' ऑफिस—१८१ स्टेनली रोड पर पधारने का कष्ट करें। निवेदक—प्रमोदकुमार।"

युवक—(जिसके चेहरे पर इतने तमाम समय संतोष और प्रसन्नता के भावों का आदान-प्रदान होता रहा है) क्यों? कैसी है अपील?

अनुपम—(कुछ सोचते हुए) सुंदर...बहुत सुंदर! (विश्राम-सा लेता हुआ) पर आपने अपील के नीचे अपना नाम क्यों डाल दिया!

प्रमोद—(आश्चर्य प्रकट करता हुआ) क्यों, कुछ बुरा कर दिया? (तनिक ठहर) यह ड्राफ्ट मैंने की थी, प्रेस में दौड़ने की तकलीफ भी मैंने की थी और इसे छपवाने के लिए संपादक की ख़ुशामद भी मैंने ही की थी। (ठहर कर) अगर मैंने इस पर अपना नाम लिख ही दिया तो कोई गुनाह तो नहीं कर डाला?

अनुपम—(तीखे स्वर में) तुम गुनाह की परिभाषा भी नहीं जानते शायद? तुम्हें चाहिए था कि तुम अपील के नीचे प्रधानजी का नाम दे देते। प्रधानजी के सामने हम लोग तो कोई चीज नहीं हैं न!

प्रमोद—(तिक्त स्वर में) प्रधानजी से इसका कोई संबंध नहीं है। उन्होंने मुझे यह काम करने का आदेश नहीं दिया था। यह तो मैंने स्वयं अपनी इच्छा से किया है।

अनुपम—(व्यंगपूर्वक) और इसी कारण शायद आप इस काम का श्रेय स्वयं ही लेना चाहते हैं।

प्रमोद—(चिढ़कर, कटुतापूर्वक) फिलहाल तो मैं यह नहीं चाहता—लेकिन यदि आपका ऐसा ही ख्याल है, तो मुझे यह स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट भी नहीं है। (तनिक रुक, परंतु अनुपम को बोलने का अवसर न देकर) इसमें हर्ज ही क्या है। आख़िर मैं भी तो आदमी हूँ। मान, प्रशंसा, प्रतिष्ठा कौन नहीं चाहता। अपने घरों का तमाम काम छोड़कर हम लोग जो यहाँ समाज-सेवा का काम करते हैं, क्या पैसे के लालच से? हम लोग, जिन्होंने अपना जीवन समाज-सेवा के लिए बर्बाद कर दिया है, रुपये-पैसे तो क्या, पर क्या अपने नाम व प्रशंसा के भी अधिकारी नहीं हैं? हमारी सेवाओं का क्या कुछ भी मूल्य हमें नहीं मिलना चाहिए?

अनुपम—(प्रमोद से अधिक तेज़ी से) मैं समझता हूँ नहीं। आत्म-संतोष ही हम समाज-सेवकों का सबसे महत् पुरस्कार है जो हमें अपने हृदय की ओर से प्राप्त होता है।

प्रमोद—(किंचित व्यंगपूर्वक) आत्मसंतोष।

अनुपम—हाँ प्रमोद, आत्मसंतोष। अपना कर्त्तव्य पालन करने के उपरांत हमें चाहे संसार की ओर से बधाई, प्रशंसा और सम्मान मिले न मिले, किंतु अपने हृदय में हम एक अधनिद्रे संतोष और सुख का अनुभव करते हैं, जो संसार की क्षणिक प्रशंसा से कहीं ऊपर की वस्तु है। एक बार उस शांति का हृदय में अनुभव तो कर देखो, मैं दावे से कहता हूँ तुम कभी नाम-मान अथवा सम्मान-पत्रों की चिंता न करोगे।

प्रमोद—(शांतिपूर्वक) तुम्हारी बातें यथार्थ जगत् के लिए ठीक नहीं हैं अनुपम। बीसवीं सदी की इस दुनिया में नाम और प्रतिष्ठा बहुत बड़ी वस्तुएँ हैं। लोग नाम के लिए प्राण तक दे देते हैं। निःस्वार्थ-भाव से सेवा करनेवालों को कोई दो कौड़ी को भी नहीं पूछता। सभाओं, जलसों, अधिवेशनों, सम्मेलनों में उसे आदरपूर्वक स्थान तक नहीं दिया जाता। तुम कहते हो, निःस्वार्थ सेवा करने से हृदय को अपार संतोष मिलता है—मिलता होगा...मुझे कभी नहीं मिला। वरन् उसके स्थान पर मिला—पग-पग पर अपमान के कारण आत्मदहन, ग्लानि, भीषण दुःख व चिंता।

अनुपम—सुनो प्रमोद। तुम बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें कह रहे हो। समाज-सेवा के क्षेत्र में एक तो तुम्हारा अनुभव अधिक नहीं है, दूसरे तुमने बिलकुल निःस्वार्थ हृदय से सार्वजनिक सेवाएँ नहीं कीं। तुम्हारे प्रत्येक कार्य में कुछ तुम्हारा अपना भी स्वार्थ निहित रहता था—ठीक दिवाकर और (तिवारी की ओर देखता हुआ)

तिवारीजी की तरह। इस कारण तुम असफल रहे और अब ऐसी भ्रामक बातें कह रहे हो।

प्रमोद—(चिढ़कर) मैं आश्चर्य कर रहा हूँ, मेरे, तिवारीजी आदि के संबंध में तुम इतना अधिक कैसे जान गये। तुम अंतर्यामी मालूम पड़ते हो।

अनुपम—(भौं पर बल देकर) अंतर्यामी—प्रत्येक मनुष्य अंतर्यामी होता है। यदि दूसरे का नहीं, तो वह अपना स्वयं का हृदय तो पढ़ ही सकता है।

प्रमोद—(जैसे उपहास कर रहा हो) क्या पढ़ सके हो तुम अपने अंतर में?

दरवाजे के निकट से एक आवाज़—निःस्वार्थ सेवा, बिलकुल सच्चे हृदय से।

[कमरे के सब व्यक्ति चौंककर दर्वाज़े की ओर देखते हैं। वहाँ एक अधेड़-से सज्जन खद्दर के कुरते, धोती, टोपी और काली जवाहरबंडी में खड़े हैं। अपनी आकृति से वे बहुत ही गंभीर व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

आगंतुक महोदय कमरे में प्रवेश करते हैं।]

प्रमोद—(विस्मित स्वर में) प्रधानजी, नमस्ते।

कमरे के व्यक्ति—(हाथ जोड़) प्रधानजी, नमस्ते।

प्रधान—(हाथ जोड़) नमस्ते, क्षमा कीजियेगा प्रमोदजी, आपका प्रश्न सुनकर मैं उसका उत्तर दिये बिना न रह सका—यह तक न विचारा कि मेरा इस प्रकार उत्तर देना कितना उचित है और कितना अनुचित? किंतु मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि अनुचित होने पर भी मेरा उत्तर सही है—इतना सही, जितना कि यह सही है कि सूरज से हमें गर्मी और रोशनी मिलती है।

प्रमोद—(कुछ लज्जित-से स्वर में) हम तो ऐसे ही आपस में एक दूसरे से बातें कर रहे थे।

प्रधान—ठीक है। आप लोगों को आपस में एक दूसरे के संबंध में भी तो थोड़ी बहुत जानकारी रखनी चाहिए। इस समय मैं आपको प्रसंगवश ही अनुपमजी के संबंध में—यानी प्रमोदजी, उनकी निःस्वार्थ सेवाओं के संबंध में—कुछ बतला देना चाहता हूँ; क्योंकि मैं जानता हूँ कि अनुपमजी स्वयं अपनी बाबत कभी कुछ न बतलायेंगे।

अनुपम—(अपने को लज्जित-सा अनुभव कर) रहने दीजिये प्रधानजी! मेरे कामों पर आप व्यर्थ ही हाशिया चढ़ा रहे हैं! आख़िर इसकी आवश्यकता ही क्या है?

प्रधान—अब तक तो न थी; किंतु अब हो गयी है। प्रमोदजी की शंका का समाधान तो आवश्यक है। प्रमोदजी, सबसे पहले मैं बंगाल के अकाल की बाबत कहूँगा। आज वे सब बातें धुँधली पड़ गयी हैं। किस तरह मैं और अनुपम अकाल के क्षेत्रों में दौरे लगाते थे—'फर्स्ट एड' का सामान, बिस्कुट और हल्की रसद

लिये हुए। जगह-जगह पर अनुपम कैमरे में प्लेटें चढ़ाते थे और रात को पेड़ों के नीचे उन्हें 'डेवलप' करते थे। अनुपमजी के फोटो सब बड़े और प्रसिद्ध अख़बारों व मासिकों में निकले, लेकिन उनके नीचे—'फोटोज़ बाई अनुपम' या 'श्रीअनुपम के सौजन्य से प्राप्त' नहीं निकला, क्योंकि ऐसी अनुपमजी की इच्छा न थी।

अनुपम—(खिन्न स्वर में) रहने दीजिये न प्रधानजी, इन सबको। इन गड़े मुर्दों को क्यों उखाड़ रहे हैं आप !

प्रधान—(अनुपम की बात अनसुनी कर) अनुपमजी के चित्रों से जनता अकाल की भीषणता का अनुभव कर सकी। वहाँ से लौटने पर आपने (अनुपम की ओर संकेत कर) चित्र बनाने आरंभ कर दिये—एक साथ दो। साथ ही 'बंगाल रिलीफ फंड' के लिए जो नाटक खेला जा रहा था उसमें आप हीरोइन का पार्ट करने को तैयार हो गये—क्योंकि कोई भी उस पार्ट को नहीं करना चाहता था। दिन भर चित्र बनाते थे और रात को रिहर्सल। पूरे होने पर दोनों चित्र शायद सात सौ में बिके—(अनुपम की ओर मुड़) क्यों, सात सौ ही में तो बिके थे ?

अनुपम—(झेंपता-सा) नहीं, पौने सात सौ के क़रीब।

प्रधान—(अपनी धुन में) हाँ, तो पौने सात सौ यह और तीस-चालीस रुपए के ड्रामे में मैडल व इनाम मिले—यह सब अकाल-ग्रस्तों के भोजन और वस्त्रों के वास्ते गये। और तारीफ यह है कि कोई भलामानुस इसे नहीं जानता। अनुपमजी की इन त्यागमयी सेवाओं की बाबत अब तक सिर्फ मैं ही जानता था। मुझे खुशी है, अब आप लोग भी यह बात जान गये...प्रमोदजी भी...और तिवारीजी भी

अनुपम—अब तो ख़तम कीजिये। या फिर मुझे यहाँ से बाहर चले जाने दीजिये।

प्रधान—नहीं अनुपमजी, आपको बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। मैं समझता हूँ, इतना ही काफी है। क्यों प्रमोदजी ?

प्रमोद—(गंभीरतापूर्वक विचार कर रहा है)

तिवारी—(उठ खड़ा होकर) मैं कुछ कहना चाहता हूँ प्रधानजी !

प्रधान—अवश्य कहिये।

तिवारी—आपसे हमने कॉमरेड अनुपम की निःस्वार्थ सेवाओं के संबंध में सुना, किंतु यह समझ में न आया कि इन सब बातों को हमें सुनाने का क्या प्रयोजन था ! सभी आदमी तो कॉमरेड अनुपम नहीं हो सकते !

प्रमोद—(कुछ कटुतापूर्वक) और सभी आदमी प्रमोद और तिवारीजी भी तो नहीं हो सकते !

तिवारी—(आश्चर्यपूर्वक) क्या मतलब ?

प्रमोद—तिवारीजी, आप शायद यह सिद्ध करने पर तुले हुए हैं कि जो सेवाएँ—और जिस प्रकार—आप कर रहे हैं, केवल वही सही हैं और बाक़ी सब ग़लत। लेकिन यह शायद आपकी भूल है।

प्रधान—आगे मुझे कहने दो प्रमोद ! तिवारीजी, आपकी या प्रमोद की या दिवाकर की समाज-सेवाएँ आप लोगों के समाज-सेवा के उद्देश्य पर ही तो निर्भर करती हैं। अपनी सेवाओं की 'राईटनेस' पता लगाने के लिए आपको उनकी असलियत देखनी होगी। क्या वास्तव में आपकी सेवाओं में परोपकार, दया, सहायता, करुणा निहित है, या उनमें आपका कोई अपना ही मंतव्य छिपा हुआ है ? आप समाज-सेवाएँ समाज के लाभार्थ ही करते हैं या केवल इस कारण कि इससे आपके अहं या आपकी अन्य किसी भावना की तुष्टि होती है ?

[सहसा बाहर से कोई कंपित कंठ में आवाज़ देता है—'प्रमोदकुमारजीऽऽ']

प्रमोद—(दायें हाथ द्वारा इशारा करता है) ज़रा ठहरिये, कोई मुझे पुकार रहा है।

[प्रमोद तेज़ी से उठकर बाहर जाता है। एक-दो मिनट तक सब ख़ामोश रहते हैं। तिवारीजी बौखलाये-से इधर-उधर देखते हैं।

प्रमोद और उसके साथ एक दुबले-पतले व्यक्ति का प्रवेश। वह गबरून का काला कोट और खद्दर का पायजामा पहने हुए है—मैला और तेल व कालिख के दाग़ोंवाला। सिर पर काली गोल टोपी और पैरों में बाटा के चप्पल। हाथ में एक बड़ा-सा थैला लटका रखा है।]

प्रमोद—(आगंतुक से) बैठिये महाशय, (उसे सकुचाता देख कुर्सी आगे बढ़ाता है) झिझकते क्यों हैं ? बैठिये न !

[आगंतुक सहमा हुआ-सा कुर्सी पर बैठ जाता है और अपना झोला धीरे से फर्श पर अपनी कुर्सी के पास रख देता है।]

प्रमोद—कहिये, क्या आज्ञा है ?

आगंतुक—(काँपते स्वर से, जैसे भय खा रहा हो) जी, कई दिन से अख़बार में अनाथालय के बच्चों के लिए किताबों की ज़रूरत की ख़बर पढ़ रहा था। आज 'बिजली' अख़बार में भी यह ख़बर देखी। मेरे पास कुछ यह किताबें (थैला ज़मीन से उठाता हुआ) बेकार रखी हुई थीं, मैं इन्हें उन ज़रूरतमंद बच्चों के लिए ले आया। (चेहरे पर आत्मसंतोष का भाव व लाली आ जाती है)

प्रमोद—(आभारी स्वर से) आपका बहुत धन्यवाद महाशय ! आपका यह उपकार चिरस्मरणीय रहेगा।

आगंतुक—(घबराकर) नहीं नहीं, ऐसी कोई बात नहीं। मेरे पास भी तो यह किताबें

रखी हुई थीं, कुछ भी काम न आ रही थीं, अब कम से कम यह किसी के काम तो आ जायेंगी। (थैला प्रमोद को देता है)

प्रमोद—(थैले में से पुस्तकें निकालता हुआ) धन्यवाद महाशय, अनेक धन्यवाद। (पुस्तकों के नाम पढ़ता है) बाल रामायण, सोने का झरना, आकाश-पाताल की बातें, विज्ञान की कहानियाँ, नेपोलियन बोनापार्ट, जापान का हाल, साहसी बालक, ध्रुव-यात्रा, रॉबिंसन क्रूसो, इतिहास की कहानियाँ, अनजान देश में। (अत्यंत प्रसन्न होकर) महाशयजी, किन शब्दों में आपको धन्यवाद दिया जाय। बालकों को ऐसी ही उत्तमोत्तम और रोचक पुस्तकों की आवश्यकता थी। आपकी यह सहायता ही पुस्तकालय की स्थापना के लिए बहुत काफी है, (सहसा) किंतु महाशय, क्या मैं जान सकता हूँ, ऐसी उपयोगी और सुंदर पुस्तकों को आप अपने से अलग क्यों कर रहे हैं?

आगंतुक—(लड़खड़ाते स्वर में) जी, यह मेरे लड़के की किताबें हैं। मैंने इन्हें उसके लिए खरीदा था, लेकिन जब वह इन्हें पढ़ चुका तो उसे इनकी क्या ज़रूरत?... यही सब तो मैंने उसे समझाया लेकिन...(सहसा रुककर) लेकिन साहब यह तो सब बेकार-सी बातें हैं। आप इन किताबों को रख लीजिये। बस! (उठ खड़ा होता है।)

प्रमोद—(चौंककर) किंतु अपना नाम तो बता जाइये जनाब।

आगंतुक—(घबराकर) नाम? मेरा नाम? लेकिन मेरे नाम का क्या कीजियेगा आप?

प्रमोद—(नम्रतापूर्वक) आखिर हमें इन किताबों के ऊपर इनके दाता के नाम का तो उल्लेख करना ही पड़ेगा।

आगंतुक—(मुड़ता हुआ) ओह! इसकी कोई ज़रूरत नहीं साहब...कोई ज़रूरत नहीं... मैं तो एक मामूली मज़दूर हूँ, यहीं कारखाने में काम करता हूँ। मेरे नाम की भला क्या ज़रूरत है?...अच्छा तो नमस्ते।

[बिना पीछे मुड़े आगंतुक का अपना खाली थैला हाथ में लिये हुए नापते डगों से प्रस्थान। कमरे के सब व्यक्ति निस्पंद तथा स्थिर हैं, जैसे सब को फालिज मार गया हो।

सहसा अनुपम एक गहरी साँस छोड़कर कमरे की हृदयहीन नीरवता को भंग करता है। विषादमयी बुद्धिमत्ता की एक फीकी झलक उसके चेहरे पर आ जाती है। कमरे के अन्य व्यक्ति उसकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि डालते हैं, किंतु बोलते कुछ नहीं।]

अनुपम—(मेज के निकट आता हुआ) प्रधानजी शायद कुछ कह रहे थे, लेकिन उनके बात पूरी करने से पहले ही मैं कुछ कहना चाहता हूँ...(दो क्षण चुप रहकर) आप सब लोगों ने अभी देखा होगा...दो मिनट पहले की इस घटना ने

हमारी समाजसेवा की कलई कितनी सुन्दरतापूवक खोल दी है। यह घटना हमारी सेवाओं की असलियत पर रोशनी फेंकती है, यह स्पष्ट रूप से बतलाती है कि हम कितने अंशों में सच्चे समाज सेवक हैं। (रुककर) अभी की इस घटना को लीजिये...अनाथालय ने पुस्तकों की मांग पेश की और इस ग़रीब मज़दूर ने मांग पूरी कर दी...संवाद भेजने का स्थल था अनाथालय—जहाँ पुस्तकों की आवश्यकता थी—और उसे 'रिसीव' (ग्रहण) करनेवाला था—यह ग़रीब मज़दूर जिसने पुस्तकों का दान दिया। एक ने मांग पेश की, दूसरे ने वह फौरन पूरी कर दी। बाकी के हम सब तो केवल तार के खंभे मात्र हैं—जड़...नीरव...निश्चल...

[कदाचित् बहुत अधिक प्रभावित होने के कारण ही सब चुपचाप हैं, जैसे कुछ समझने की चेष्टा कर रहे हों। तिवारी का हिलना-डुलना बंद है। अनुपम अपनी कोहनी मेज़ पर टेक, ठोड़ी के नीचे मुट्ठी में तूलिका पकड़, अधखुली तथा विचारक आँखों से अंतरिक्ष की ओर देखता हुआ, बैठा रहता है।

कमरे में सुई गिरने की आवाज का सन्नाटा है, केवल घड़ी टिक-टिक कर कमरे में जीवन-आभा भर रही है।]

पर्दा गिरता है।*

---

* पोलिश लेखक वोल्सलॉव ब्रूस की एक कहानी से प्रभावित।

गुलाबराय

प्रभुजी मेरे औगुन चित न धरौ

[कुछ आत्म-स्वीकृतियाँ]

सूर और तुलसी की भाँति मैं यह तो नहीं कह सकता कि मेरे दोषों को स्वयं माता शारदा भी सिंधु की दवात में काले पहाड़ की स्याही घोलकर पृथ्वी के कागज पर कल्पवृक्ष की कलम से भी नहीं लिख सकती हैं। इतने भारी झूठ के मोल में दैन्य खरीदने की मुझमें सामर्थ्य नहीं हैं। बात यह है कि वे लोग तो कवि थे, उनकी अतिशयोक्तियाँ भी अलङ्कार बन जाती हैं। समरथ को नहिं दोष गुसाईं। महिम्नस्तोत्र के कर्ता बेचारे पुष्पदंताचार्य* ने जो बात भगवान के गुणों के लिए कही थी ('असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिंधुपात्रे यत्वा सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।) वही बात सूर और तुलसी ने अपने अवगुणों के लिए लिख दी। कवि तो भगवान की स्पर्द्धा कर सकता है, क्योंकि भगवान को भी कवि कहा गया है। 'कवि पुराणमनुशासितारम्' लेकिन बेचारे गद्यलेखक की क्या ताब जो अपने छोटे मुँह इतनी बड़ी बात कह डाले। हाँ फिर भी मुझमें अवगुण हैं और उनको मैं ही जानता हूँ—साँप के पैर साँप को ही दीखते हैं—उनको शायद परमेश्वर भी न जानते हों, क्योंकि जहाँ तक मैंने सुना है, वे भले पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं और भले आदमी दूसरों के दोषों को स्वप्न में भी नहीं देखते और यदि देखते भी हैं तो सुमेरु-से दोषों को राई बराबर। बुराई उनकी कल्पना की पहुँच से बाहर है।

ख्याति की चाह को मिल्टन ने बड़े आदमियों की अंतिम कमजोरी कहा है, लेकिन शायद यह मेरी आदिम कमजोरी है, क्योंकि मैं छोटा आदमी हूँ। यशलोलुपता के पीछे दुख भी काफी उठाना पड़ता है। ख्याति की चाह ही—जिसको मैं दूसरों की आँख में धूल झोंकने के लिए साहित्य-सृजन की प्रारंभ प्रेरणा कह दूँ—मुझे इस समय जाड़े की रात में गद्दे-लिहाफ का संन्यास करा रही है। रोज कुआँ खोदकर रोज पानी पीने की उक्ति सार्थक करते हुए मुझे भी कालेज के लड़कों को पढ़ाने के लिए स्वयं भी अध्ययन करना

---

* शायद उनके दांत बड़े-बड़े होंगे, नहीं तो उनका नाम होता कलिका या कोरकदंताचार्य लेकिन बड़े दांतवाला मूर्ख नहीं होता है, क्वचिद्दंता भवेन्मूर्खः। वे बेचारे ऐसे मुलायम दांतों से खाते भी क्या होंगे—शायद दूध पीकर रहते हों।

पड़ता है। उसकी सुध-बुध भूलकर और यमदूत नहीं तो कम से कम कंजूस कर्जख्वाह की भाँति प्रूफों के लिए प्रातःकाल ही अपने अवाञ्छित दर्शन देनेवाले प्रेस के भूत (कंपोजीटर) की माँग की भी अवहेलता करके देश के दंगों के शमन और शरणार्थियों के पाकिस्तान से निष्कासन की भाँति इस लेख को मैं चोटी की प्राथमिकता (top priority) दे रहा हूँ।

आचार्य मम्मट ने काव्य के उद्देश्यों में यश को सर्वप्रथम (यह शब्द मुझे सर्वप्रथम देव पुरस्कार विजेता का स्मरण दिलाता है) स्थान दिया है। काव्यं यश से पहले और अर्थकृते को पीछे (बस वह पीछे ही रखने की बात है भूलने की नहीं) कहा था किंतु आजकल जमाना पलटने से उसका क्रम भी पलट गया है। त्रेता युग में लड़ाइयाँ भी यश के लिए ही लड़ी जाती थीं। रघुवंश में कविकुल गुरु कालिदास ने कहा है 'यशसे विजगीषुणाम्' किंतु आजकल विजय भी अर्थकृते ही की जाती है। फिर भी मुझ जैसा प्राचीन पंथी 'चील के घोंसले में माँस' की भाँति अर्थाभाव के होते हुए भी यश लोलुपता से पल्ला नहीं छुड़ा सका है। रेल की यात्राओं की यमयातनाओं के कारण (कभी-कभी वे बहुत लंबी यात्रा करा देती हैं) दूर के स्थानों की सभाओं का सभापतित्व करना छोड़ दिया है और उसके लिए मुझे इतना ही श्रेय मिल सकता है जितना कि वृद्धा वेश्या को सती होने का किंतु निकट के मथुरा, अलीगढ़ आदि स्थानों को कुछ अधिक आग्रह करने पर नहीं छोड़ता। स्थानीय सभाओं में, यदि वे निशाचरी वृत्तिवालों की न हों तो गीता का काला अक्षर भैंस बराबर जानते हुए भी गीता तक पर व्याख्यान देने और अपने अल्पज्ञ श्रोताओं का साधुवाद लेने पहुँच जाता हूँ। (काले अक्षर मेरे लिए भैंस बराबर ही हैं। वे मेरे लिए चन्द्रज्योत्सा-सा धवल यश और साथ ही कम से कम इस संसार में निरुपम, और यदि स्वर्ग तक पहुँच होती तो अमृतोपम दुग्धधारा का सृजन कर देते हैं। कभी-कभी भैंस की भाँति वे टल्ल भी हो जाते हैं) दिमाग का दिवालियापन मैं सहज में स्वीकार नहीं करता और लोग करने भी नहीं देते। श्रवण समीप क्या सारे सर के बाल सफेद हो जाने पर भी, 'अंग गलितं' तो नहीं, 'पलितं मुण्डं', अवश्य और करीब-करीब ५० प्रतिशत 'दशनविहीनं जातं तुण्डम्' का (अभी करधृत कंपितशोभित दण्डम् की बात नहीं आयी, दण्ड देने से मैं सदा बचता हूँ, रामचंद्रजी के राज्य में तो दण्डजतिन कर भी था. मैं यदि राजा होता तो उसका खरे की सींगों की भाँति अत्यंताभाव करा देता किंतु खुदा गंजे को नाखून नहीं देता) वार्द्धक्य का अच्छे सेकिंड डिवीजन का प्रमाण-पत्र प्राप्त कर लेने पर भी 'भज गोविंद भज गोविंद मूढ़मते' की बात सोचकर लेखनी को विश्राम नहीं देता।

यश-लोलुप होते हुए भी नेतागीरी से कुछ दूर रहा हूँ। लेखन कार्य में तो चारपाई पर पड़े-पड़े भी यश लाभ की जुगति लग जाती है। नेतागीरी में खैर पैदल तो नहीं

मोटर ताँगों में घूमना पड़ता है, (रक्तचाप के कारण तथा धनाभाव के कारण वायु-यान में बैठकर देवताओं की स्पर्द्धा नहीं करना चाहता मनुष्य बना रहना मेरे लिए काफी है) गला फाड़कर कभी-कभी बिना लाउडस्पीकर के भी व्याख्यान देना होता है, जाड़ों में भी शुद्ध खद्दर का बगुले के पंख से सफेद (बगुले की सफेदी के गुण की ही उपमा दी गयी है) कुरते में ही संतोष करना पड़ता है और घर पर मक्खन टोस्ट खाते हुए भी बाहर पार्टियों में चना गुड़ खाने का त्याग दिखाना होता है। खैर अब जेल जाने की बात नहीं रही।

उदारता तो कभी-कभी छाती पर पत्थर रखकर कर भी देता हूँ किंतु बिना अहसान जताए नहीं रहता। जहाँ तक लक्षणा-व्यञ्जना के साहित्यिक-साधनों की पहुँच है उन सबका प्रयोग कर लेता हूँ फिर भी यदि कोई संकेतग्राही चतुर पुरुष न मिला तो यथा-संभव अभिधा से भी काम ले लेने की निर्लज्जता कर बैठता हूँ। हाँ इतनी बात अवश्य है कि मैं उपकृत का सम्मान बहुत करता हूँ। उस पर अहसान जताते हुए उसमें हीनता का भाव उत्पन्न नहीं होने देता हूँ। मुझे तुलसीदास जी की बात याद आ जाती है। 'दान मान संतोष' उपकृत मुझे बड़ा बनने का अवसर देता है। उसका मैं सदा आभार मानता हूँ। अहसान जताने के लिए जब हार्दिक ग्लानि होती है तब माफी भी मँगा लेता हूँ; एक जगह यह भी सुनने को मिला 'जूता मारकर दुशाले से पोंछने से क्या लाभ?'

जहाँ यश प्राप्ति और धन लाभ के साथ आलस्य का संघर्ष न हो वहाँ आलस्य शीर्षस्थान पाता है। साधारणतया मैं बाबा मलूक दास के 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम, दास मलूका कह गये सबके दाता राम' वाले अमर काव्य को अपना आदर्श वाक्य बनाना चाहता हूँ और इस प्रवृत्ति के कारण संतोषी होने का श्रेय भी पा जाता हूँ किंतु इस युग में बिना हाथ पैर पीटे काम नहीं चलता 'नहि सुप्तस्य सिंहस्य मुखे प्रविशंति मृगाः'

मेरी स्वार्थपरायणता मेरे आलस्य और आराम-तलबी पर सान चढ़ा देती है, फिर शारीरिक शैथिल्य ने तो आलस्य का प्रमाण-पत्र दे दिया है। मैं अपने पास-पड़ोसी या संबंधी के प्र० प्र० पितामह का भी मरना नहीं चाहता। उसमें मानवता की मात्रा तो वाजिबी ही है किंतु उस शुभ कामना का असली उद्देश्य यह होता है कि श्मशान तक न जाना पड़े। जहाँ स्वार्थ-साधन की बात न हो वहाँ बड़ी से बड़ी भव्य बात भी फीकी पड़ जाती है। सरल साहित्य सेवियों की मंडली में जहाँ मुझे कुछ ज्ञान प्राप्ति की भी संभावना नहीं होती मैं भी उन लोगों की बातों में रस लेने का अभिनय-सा कर देता हूँ। कभी-कभी मेरी उदासीनता प्रकट हो जाती है। मैं पक्का उपयोगितावादी हूँ किंतु मेरा स्वार्थ सीमा से बाहर नहीं जाने देता। अपने स्वार्थ का यदि दूसरे के स्वार्थ से संघर्ष हो

तो मैं दूसरे के स्वार्थ को मुख्यता देता हूँ। मैं हमेशा यह चाहता रहता हूँ कि भगवान कही से छप्पड़ फाड़कर दे दें किंतु दुर्भाग्यवश मेरे मकान में कोई छप्पड़ नहीं है और मैं धन के लिए भी अपने मकान की छत तोड़ना नहीं चाहता। इसीलिए शायद गरीब हूँ। चुपड़ी और दो दो की बात नहीं हो सकती।

मान-मद तो मुझमें नहीं है फिर भी बड़े आदमियों द्वारा अपमान का सहन नहीं कर सकता हूँ। गरीब आदमी द्वारा किया हुआ अपमान मैं महर्षि भृगु की लात की भाँति सहर्ष स्वीकार कर लेता हूँ क्योंकि वह बिना किसी कसक के या बिना किसी हीनता-ग्रंथि के सहज में दूसरे का अपमान नहीं करता। क्रोध भी मैं अपने से बड़ों पर ही करता हूँ। छोटों पर दिखावटी क्रोध भी नहीं करता। द्वेष तो मैं किसी से नहीं करता—बनिया जिसका यार उसको दुश्मन क्या दरकार? इसका अर्थ मैं यह लगाया करता हूँ कि बनिए का इतना सद्व्यवहार होता है कि उसके और उसके मित्रों तक के कोई दुश्मन नहीं होते। (जब यह कहावत बनी तब ब्लेकमार्केट नहीं थे) हाँ, ईर्ष्या अवश्य होती है। जब दूसरे लोगों को जो मेरे साथी थे मोटरों पर चलता देखता हूँ और मैं स्वयं धूप निवारण करने के लिए सर पर कोट डालकर सड़क पर बिना द्रुमछाया के भी विश्राम-विश्राम चलता हूँ तब ईर्ष्या अवश्य होती है और सोचता हूँ कि मुझे भी कुछ अधिक साहसी, उद्योगी और थोड़ा-बहुत बेईमान भी बनना चाहिए था। बनिए लोग वैसे तो फौज में जाते हैं, कप्तान और कर्नल बनते हैं और उन्होंने इस कलंक को धो डाला है कि कहा जाने वणिक् पुत्र गढ़ लैवे की बात। अब उन पर यह कलंक नहीं किया जाता कि 'संस्कारा अबला जातिः' अथवा 'यस्मिन कुले त्वमुत्पन्नोसि गजस्तत्र न हन्यते' फिर भी 'आहार निद्रा भय मैथुनञ्च' में और गुणों के साथ भय मुझमें प्रचुर मात्रा में है। इसे मैं पहले गिनाता हूँ। गीता पर व्याख्यान देते हुए मैं चाहे बड़ी डींग के साथ कह दूँ कि अभयं को दैवी सम्पत्ति में पहला स्थान दिया गया है किंतु यह 'पर उपदेश कुशल' की बात है। निर्भयता की हिंदू-मुसलिम दंगों में काफी परीक्षा हो गयी है। उन दिनों घर के दुर्ग से बाहर नहीं निकला। सरकार से मोर्चा लेने की बात मैंने कभी सोची भी नहीं क्योंकि जब जेल जाने के लिए प्रभू ईसा मसीह की भाँति ईश्वर से प्रार्थना करना पड़े कि 'या खुदा यह आफत का प्याला मुझसे टाल' तो फिर उस राह जाने से ही क्या काम? और जिस राह नहीं जाता उसके पेड़ भी नहीं गिनता। पुलिस को धोखा देने में मजा अवश्य आता है; बुद्धि के चमत्कार पर गर्व करने को भी मिलता है किंतु वह कम से कम महात्मा गांधी के अर्थ में बहादुरी नहीं कही जाती है। मुझमें न इतना साहस है और न इतना शारीरिक बल कि रात-बिरात खाई-खंदकों में घूमता फिरूँ और फिर जेल में घर का-सा आराम कहाँ? (वैरागी बाबा तुलसीदासजी को राम नाम के उपमान के लिए घर से बढ़कर उपमान नहीं मिला 'सुखद

अपनो सो घर है') मैं कांग्रेस जनों की बुराई करते हुए भी, गांधीजी की भाँति चार आने का मेम्बर भी न होता हुआ भी, लोगों के आग्रह करने पर गांधी टोपी को पूर्णतया न अपनाने पर भी और जेल जाने का प्रमाण-पत्र न प्राप्त करते हुए भी कांग्रेस के आदर्शों का परम भक्त हूँ। इस बात को शायद पिछली सरकार के सामने भी स्वीकार करने को तैयार था। कभी-कभी अपने मित्रों से कांग्रेस के पक्ष में लड़ाई भी लड़ना पड़ती है किंतु फिर भी निर्भयता का गुण नहीं अपना सका हूँ। जीवधारिओं की शेष कमजोरियाँ भी मुझमें उचित सीमा के भीतर वर्तमान हैं। अंतिम को मेरी अवगुणों की सूची में अंतिम ही स्थान मिला है। उसको मैं मानसिक रूप देने का ही गुनहगार हूँ क्योंकि मनोभव का उचित स्थान मन में ही है। 'नेत्र सुखं केन वार्यते' के सिद्धांत को मैं मानता हूँ किंतु गंजे के नाखूनों की भाँति नेत्र की ज्योति भी ईश्वर की दया से मंद ही है। नेत्रों के पाप से भी यथासंभव बचा ही रहता हूँ किंतु मानसिक दृष्टि मंद नहीं हुई है। उस दिन को मैं दूर ही रखना चाहता हूँ जब मन मोदकों से भी वञ्चित हो जाऊँ।

आहार को पंडितों ने पहला स्थान दिया है किंतु मैं उसे भय के पश्चात दूसरा स्थान देता हूँ। आहार जीवन की आवश्यकता ही नहीं वरन् जीवन का आनंद भी है। डाक्टरों की कृपा से कहूँ या रोगों के प्रकोप से कहूँ, आहार का आनंद बहुत सीमित हो गया है फिर भी नित्य ही पाचन-शक्ति के अनुकूल उसका थोड़ा-बहुत भाग मिल जाता है। काव्य से अधिक सद्यः परनिवृत्तिः भोजनों में मिलती है। उपवास में विश्वास रखते हुए भी मैं एकादशी व्रत तब तक नहीं रखता जब तक छप्पन प्रकार के व्यञ्जन नहीं तो कम से कम एकादश प्रकार के भोज्य पदार्थों के मिलने की संभावना न हो।

दोपहर का भोजन तो भर पेट कर लेता हूँ, उसमें तो मैं अपने नवयुवक बन्धुओं से बाजी ले जाता हूँ। सायंकाल को मैं आधे पेट ही सोता हूँ गरीब भारत की आधे पेट सोनेवाली जनता की सहानुभूति में नहीं और न अर्थाभाव से किंतु आटे से वर्तमान शक्कर की मात्रा के पचानेवाले पैंक्रियस (pancreas) के रस के अभाव के कारण। उस अभाव की पूर्ति मैं इन्स्यूलिन के इञ्जेकशनों से कर लेता हूँ। अंधकार की भांति मेरा शरीर भी सूची भेद्य है और जैसा मैंने अन्यत्र लिखा है मेरे शरीर में जितनी सुइयाँ लग चुकी हैं उतने बाण भीष्म पितामह की शरशैया में भी न होंगे।

मिष्टान्न का मैं यथासंभव संन्यास करता हूँ किंतु दूध के साथ शर्करा का वियोग कराना मैं पाप समझता हूँ। शरीर और शक्कर के जोड़े में एक का विच्छेद करने से मुझे क्रौंच मिथुन की बात याद आ जाती है और भय लगता है कोई वाल्मीक जैसे करुणाद्र-हृदय ऋषि मुझे भी शाप न दे दें कि 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः' लेकिन शक्कर इतनी ही डालता हूँ जितना दाल में नमक डाला जाता है या कोई आजकल के सभ्य समाज में बिना आत्म-सम्मान खोये कोई झूठ बोल सकता है। मिठाई मैं मोल

लेकर बहुत कम खाता हूँ क्योंकि मैं आफत मोल नहीं लेता। अच्छे भोजन का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता। मैं किसी के निमंत्रण का तिरस्कार नहीं करता किंतु मर्यादा का ध्यान अवश्य रखता हूँ। फिर भी रोगमुक्त नहीं हो पाता हूँ क्योंकि डाक्टरों की बांधी हुई सौमित्र रेखा का मान करने में मैं असमर्थ हूँ। दावतों में जाकर अपनी अन्तरात्मा को धोका देने के लिए 'सर्वनाश समुत्पन्ने अर्धं त्यजेत पंडितः' के न्याय से अपने पास बैठेवाले सज्जन को मिठाई का अद्धांश समर्पित कर देता हूँ किंतु क्या रक्खूँ या क्या दूँ के निर्णय का भार मैं अपने ऊपर ही रखता हूँ। 'परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे या शरीरेषु दयां कुरु' के सिद्धांत को मैं भूल जाने का प्रयत्न करता हूँ और इसी से मैं बचा हुआ हूँ।

जब मैं न बातें करता हूँ और न पढ़ता हूँ तब मैं सोना ही चाहता हूँ। इसीलिए मैंने अपने ठलुआ क्लब का समर्पण सुख-दुख की अपनी चिरसंगिनी परम प्रेयसी शैया देवी को किया है। रियासत में रहकर मुझमें दो ही विलासताएँ आयी हैं, एक दिन में सोने की और दूसरी धूप में न चलने की। धूप निवारण के लोभ से ही मैं कांग्रेस के राज्य में भी कोट को इसी तरह साथ रखता हूँ जिस तरह बंदर अपने मरे हुए बच्चे को। रात को सोने ही के प्रेम के कारण मैं सिनेमा आदि ताश खेलने के दुर्व्यसनों से बचा हुआ हूँ। मैं उन लोगों में से नहीं हूँ जो रात भर जागकर 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जाग्रति संयमी' की भगवान कृष्ण की उक्ति को सार्थक करते हैं।

लोग मुझे धार्मिक समझने की मूर्खता करते हैं और बड़ी श्रद्धा से धर्म-चर्चा करते हैं। मैं यथासंभव उनका स्वप्न भंग नहीं करता। ऐसे श्रद्धालु लोगों को संतुष्ट करना कठिन नहीं होता है। धार्मिकता की विडंबना किये बिना मैं उनकी बातों का यथामति उत्तर दे देता हूँ। उत्तर देकर यदि दाताओं की सूची में मेरा नाम आ जाय तो 'वचने किं दरिद्रता।'

मैं अधार्मिक या अत्याचारी नहीं हूँ। मैं गोस्वामी तुलसीदासजी के इन वचनों में कि 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर पीडन सम नहीं अधमाई' सवा सोलह आना विश्वास करता हूँ पर इतना धर्म-भीरु भी नहीं जो पाप के नाम से डरूँ। झूठ भी जैसे ईद-बकरीद जुलाहा पान खा लेता है मैं बोल ही लेता हूँ अर्थलाभ के लिए तो नहीं किंतु मान-मर्यादा की रक्षा के लिए या किसी दूसरे की रक्षा के लिए। कभी बेबस होकर बिना टिकट के रेल में सफर भी कर लेता हूँ किंतु उसका पश्चात्ताप नहीं होता। पकड़ा न जाऊँ तो उस बेबसी के किये हुए पाप को सहज में भूल जाता हूँ किंतु तांगेवाले को कम पैसे देने में अवश्य दुख होता है।

चोरी मैं बड़ी चीज की तो नहीं करता किंतु छोटी चीज की कभी-कभी कर लेता हूँ, वह पाप भी चीज की पसंद पर न्यौछावर कर देता हूँ। कभी-कभी अच्छी पुस्तकें जिनकी संख्या एक हाथ की अँगुलियाँ पर की जा सकती हैं मैंने चुरा ली हैं, वह भी उनके यहाँ

से जिनके यहाँ मैंने आतिथ्य स्वीकार किया है। उनमें एक कीथ महोदय का संस्कृत ड्रामा है। वह भी कोई मुझ-सा सहृदय मुझसे माँगकर लौटाना भूल गया है। अपरिग्रह अर्थात् त्याग मैं जरूरत से ज्यादह नहीं करता हूँ। मैं दुनिया में और लोगों की भाँति आराम चाहता हूँ, कुछ-कुछ वैभव भी किंतु दूसरों को सताकर नहीं। जिस तरह लोग कला का कला के लिए अनुशीलन करते हैं वैसे मैं धन के लिए धन का अनुशीलन नहीं करता, फिर भी धन के लोभ-लालच से मैं परे नहीं हूँ। धन मेरे लिए साधन है, साध्य नहीं है।

इन सब अवगुणों के होते हुए भी मैं परेशान नहीं हूँ। जब तक कोई आफत सर पर न आ जाय मैं भगवान से भी दया की शिक्षा नहीं माँगता (किसी दूसरे से भी माँगने में मुझे लज्जा नहीं आती किंतु मैं मनुष्य के एक बार नहीं करने या मौन हो जाने पर दुबारा नहीं मुँह खोलता) मैं पूजा-पाठ सौंदर्योपासना के रूप में मन को खुश कर लेने के लिए भोजनों की प्रतीक्षा में कर लेता हूँ। लोग कहते हैं भूखे भजन न होइ गुपाल किंतु मैं भूख में ही भजन करता हूँ। मुझे धूप की गंध बड़ी अच्छी लगती है। बिना मंत्रों के ही कभी-कभी हवन कर लेता हूँ। भक्ति-भावना से नहीं वरन् नाद-सौंदर्य के कारण कभी देवताओं के स्तोत्र पढ़ लेता हूँ। और कभी-कभी जल्दी में गीता के 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' के साथ भर्तृहरि के शृंगार शतक के भी श्लोक 'विश्रम्य-विश्रम्य द्रुमारामं छायासु तन्वी विचचार काचित्' या कालिदास के मेघदूत का शाकुन्तल के तन्वी श्यामा शिखिरदशना वाला श्लोक पढ़ जाता हूँ। इसके लिए मैं स्वर्ग से विमान आने की प्रतीक्षा नहीं करता। मेरा धर्म स्वांतः सुखाय है।

और कुछ न लिख सकने के कारण मानसिक दरिद्रता की आत्मग्लानि निवारण करने के लिए मैंने ये आत्म स्वीकृतियाँ लिख दी हैं नहीं तो अपना भरम न खोलता। बौद्धों में तथा रोमन कैथोलिकों में पापों की आत्मस्वीकृति विधिवत की जाती है और उसकी गणना पुण्य कार्यों में होती है। मुझे मालूम नहीं कि इस पुण्य का क्या फल मिलेगा। इतना ही बहुत है कि इस आत्म-स्वीकृति में जिनता आत्म-विज्ञापन है उसे जनता उदारतापूर्वक क्षमा कर दे।

———

जैनेंद्रकुमार

मेरे साहित्य का श्रेय और प्रेय

रेडियो की यह मांग कि मैं अपने साहित्य का श्रेय बताऊँ और प्रेय बताऊँ, मुझे कुछ हैरान करती है। इसलिए पहले तो खयाल हुआ कि इस सवाल का जवाब देने का जिम्मा मैं न उठाऊँ और बात टाल छोड़ूँ। कह दूँ कि जो मेरे नाम पर छपा हुआ मिलता है, उस माल पर पढ़नेवालों का हक है, मेरा नहीं। लिहाजा इस तरह के सवाल उनसे कीजिये। लिखकर मैं बरी हुआ, छपकर वह चीज मुझसे छिन गयी और सबकी बन गयी है।

लेकिन सच यह कि उस सवाल ने मुझे खींचा भी है। इसलिए नहीं कि सचमुच अपनी तरफ़ से कोई खास श्रेय डालकर मैंने लिखने का काम किया है। बल्कि, इसलिए कि उससे मुझे अपने को टटोलने की जरूरत पैदा होती है।

जवाब देते वक्त सवाल के प्रेय शब्द को मैं उड़ाये दे रहा हूँ। आँखों को अच्छा लगे वही न प्रेय! यानी प्रेय सदा रूप होता है। पर विवेक रूप नहीं, गुण देखता है। या कहें कि गुण की अपेक्षा में रूप को देखता है। इस तरह लिखने के मामले में मैं प्रेय का अविश्वासी हूँ। यह नहीं कि आँखें रूप पर नहीं जातीं, पर साथ ही चाहता हूँ कि मन वहाँ न जाय। लेखक की हैसियत से, इसलिए मैंने रूप पर जानेवाली आँखों को बस भर बहकने नहीं दिया है। मतलब मेरी रचनाओं में सुंदरता नहीं है। रूप सौंदर्य के वैभव को मेरी कलम नहीं छू सकी और नहीं उतार सकी है। कहीं उसका आभास मिलता हो तो मेरी ओर से शायद व्यंग का इशारा भी वहाँ पहुँचा है। रूप एक मुसीबत लगता है; उसके लिए भी कि जिसमें हो, फिर उसका तो कहना क्या जो उसे देखे और रीझे। रूप इस तरह छल है। इस ओर पर वह मान है, तो दूसरी ओर मोह। अपनी दृष्टि का ही मोह बाहर दृश्य में रूप की सृष्टि करता है। अध्यापक के लिए जो लड़की निकम्मी है, उठते युवक के लिए वही सारी दुनिया बन जाती है। इसे आँखों का ही फर्क कहना चाहिए। इसलिए रूप तो देखनेवाले की आँख में है, अलग वह कहीं नहीं है। सारांश, इस चर्चा में प्रेय को तो मैं छोड़कर ही चलना चाहता हूँ।

छोड़ने का मतलब कुछ और आप न लें। हम रहते और चलते हैं तो प्रेय के ही बल पर, प्रेय के ही पीछे। भगवान या आदर्श या सत्य कितना भी कुछ हो हमारा नेह

उससे नहीं लगा है तो वह हमारे अंदर किसी कोने में ही पड़ा रहेगा। या तब देखेंगे कि जीभ राम का नाम ले रही है तब मन प्रेयसी का ध्यान धर रहा है। राम की ओट में से काम झाँक रहा है। इसलिए और कुछ छोड़ सके, प्रेम को छोड़कर तो जीवन रह ही नहीं सकता। फिर भी प्रेम है छल। आगे दृश्य हर घड़ी अदलता-बदलता रहे, तभी आँख काम करती और रस पाती है। चंचल न हो वह आँख नहीं। सोही रूप का हाल है।

तो इस उलझन का एक ही उपाय है। वह यह कि प्रेय तो रहे पर श्रेय से दूर न रहे। अर्थात् बाहर की बंद कर हम अंदर की आँख से यानी विवेक से देखें। और बाहर की आँख को बराबर साधते रहें कि दीखनेवाले रूप को भी वह न दीखनेवाले गुण में ही देखे, अन्यत्र कहीं न देखे।

आखिर निर्गुण भगवान को इसी से तो मनुष्य के निकट सगुण बनना होता है। यह कौन कहे कि देह की ओर से राम और कृष्ण कामदेव से कुछ भी न्यून न रहे होंगे। फिर भी जब उनमें हमने भगवान की प्रतीति उतारी तो क्या अपने बस का सुंदर से सुंदर रूप भी उन्हें नहीं पहनाया? इस तरह हमारे वे पुराण-पुरुष रूप की ओर से भी भुवन-मोहन बने हुए हैं।

इसी से कहना होगा कि सत्य से सुंदर कुछ है ही नहीं। सूरज से धूप मिलती है, पर उस धूप में क्या रूप है? यदि है तो वह आँख के बस का नहीं है, इतना अरूप है। पर क्या उसी की कुछ किरणों में से सतरंगी धनुष हमको नहीं प्राप्त होता?

अब बालक धूप का तो आदी है; लेकिन आसमान में सतरंगी धनुष खिंचा देखकर वह किलकारी भर उठता है। उसके देखते देखते वह धनुष मिट जाता है; तब भी वह आस में रहता है कि कब फिर वही बाँकी सतरंगी कमान दीखने को मिले। मानों उस बालक के आनंद के निकट दुनिया उस धनुष के कारण ही सच हो। अन्यथा सब बेकार और व्यर्थ हो।

मानना होगा कि हमारी आँखें क्योंकि रूप पर ही खुलती हैं, इसलिए अगर कोई सत्य हो तो उसे हमारे आगे रूपवान होकर ही आने का साहस करना चाहिए। और सचमुच साहित्य इसका ध्यान रखता है। आदमी की इस पहली असमर्थता का ध्यान न रखकर चलनेवाला दार्शनिक जीवन भर सत्य-तत्व खोजता और ग्रंथों में टाँककर असंख्य शब्द दे जाता है। पर उन रत्नों को लूटने हाथ नहीं लपकते, जब कि संतों की निपट अटपटी बानी गीत और भजन बनी सब कहीं मुखरित दीख पड़ती है। सच पूछिए तो सुंदर नहीं है, तभी सत्य उपयोगी है। पर सत्य के उपयोग से किन बिरलों को काम! पहली माँग है लोगों को प्रेम की, और रूप से अंधे होकर प्रेम कैसे हो? मैं मानता हूँ कि साहित्य सत्य के प्रति मनुष्य में वही अनन्य प्रेम उत्पन्न करता है। सत्य का प्रेम यानी

उसका बोध नहीं चाह देता है। क्योंकि पाठक की रागात्मक वृत्तियों को चेताकर जिस प्रेम को वह उसके आगे प्रत्यक्ष करता है, उसकी परिणति फिर उत्तरोत्तर शिव और सत्य के सिवा कहीं है ही नहीं।

इस जगह आकर मान लेता हूँ कि प्रेय से मेरी छुट्टी हुई क्योंकि वह सरककर श्रेय में जा मिला और स्वयं में खो गया।

तो, अब श्रेय की जहाँ तक बात है, वहाँ मैं स्वार्थ से हटकर भटकना नहीं चाहता। तब मेरे साहित्य में क्या श्रेय है जो पाठक को देने का कष्ट मैंने किया है—यह प्रश्न ही मेरे लिए नहीं रहता। जरूर अगर साहित्य में श्रेय होगा तो पहले लिखनेवाले के भाग में होगा। पढ़नेवाले को इस मामले में दोयम रहना होगा। मुझ पहले के बाद दूसरे पाठक को भी अगर उस प्रेय में का कुछ मिले तो उसकी कैफियत वह दे। मैं तो पाठक को यही कहूँगा कि उसके लिए वह किसी तरह मुझसे न अटके। मेरी रचना से उसे मिलनेवाला लाभ तो वह है जो उसने ले लिया है, मैंने नहीं दिया है। लेने से चूककर देनेवाला मैं कौन?

सारांश, मैं 'स्वांतः सुखाय' पर अटकने को तैयार हूँ। 'लोक हिताय' तक न भी जाऊँ तो भी कोई हानि नहीं देखता।

तो अपना श्रेय बताने को मैं अपनी आप-बीती पर लौटूँगा। लिखना शुरू हुआ तब मेरी बुरी हालत थी। अंदर से बुरी, बाहर से और भी बुरी। उमर काफी, करने को कुछ नहीं और पूछनेवाला कोई नहीं। अकेला, अविश्वस्त और असमर्थ। बस मैं और कहने को एक माँ। आयु में वृद्धा होती जाती हुई इस माँ को लेकर अपनी असमर्थता और अपात्रता पर मैं एड़ी से शुरू करके सिर तक अपने में डूबता ही जा रहा था। जैसे कोई साबित मुझे लील रहा हो। इस हालत में सोच होता कि दुनिया में तू किसी गिनती की भूल से ही हो पड़ा है। चल, नाहक धरती का बोझ क्यों बढ़ाता है! दिन तुझसे ढोए नहीं बनते। ऐसे में क्यों काल से छुटकारा नहीं लेता और दुनिया को छुटकारा नहीं देता। पर यह खयाल पूरा नहीं हो सका। क्योंकि माँ थीं, और उनका होना मुझे रोकता था। तब लगता कि नहीं, तू अभी मर न पायेगा। पर जी कैसे पायेगा यह भी कुछ ढूँढ़े न मिलता था। ऐसी बेबसी में मैंने लिखा और उस लिखने ने मुझे जीता रख लिया।

जानता हूँ, तरह-तरह की थियरीज हैं। एक शब्द है 'इस्केप'! अनुवाद से उसे हिंदी में बनाया है पलायन'; मेरे अपने मामले में लिखना शुद्ध 'इस्केप' और 'पलायन' था।

इसलिए पहला श्रेय मेरे साहित्य का यह हुआ कि उसने मुझे इस्केप दिया, मेरी रक्षा की। मैं भागकर उसमें छिप सका। इस तरह उसने मुझे जीने दिया। मेरे भीतर की आत्मग्लानि, हीन भावना और उनकी तहों में लिपटी हुई स्वप्नाकांक्षा से—इस सब

झमेले को कागज़ पर निकालकर जैसे मैंने स्वास्थ्य का लाभ किया। जो मेरे अंदर घुट रहा और मुझे घोट रहा था उसी को जबरदस्ती खींचकर बाहर निकालने की पद्धति से, देखा कि मैं उससे मुक्ति पा रहा हूँ। उसके नीचे न रहकर उसके ऊपर आ रहा हूँ। जो कमज़ोरी थी और मुझे कमज़ोर कर रही थी उसी को स्वीकार कर लेकर और रूप पहना देकर मैं मज़बूत बन रहा हूँ।

इस अनुभव पर से मुझे कहने दीजिये कि साहित्य का पहिला श्रेय है जीवनलाभ। उसी को कहें अपनी अंतरंगता की स्वीकृति और प्राप्ति, अपने भीतर के विग्रह की शांति, उलझन की समाप्ति और व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर एकत्रीकरण।

शुरू में जो लिखा वह उन दबी भावनाओं का रूपक न था तो क्या था जो स्थिति की यथार्थता से हार लौटकर कल्पना की सुरक्षितता में अपना बसेरा बनाती और फिर वही डैने फैलाती है। क्योंकि क्रिया नहीं थी, इसलिए इसे प्रतिक्रिया ही तो कह सकता हूँ। तब, कुछ कहानियाँ बनीं जिनमें मैं जो खुद न बन सकता था, वह कहानियों के नायक बनते थे। मैं भीरु था; लेकिन कहानी लिखी गयी जिसका डाकू सरदार दिलेरों का दिलेर था। शीर्षक हुआ परीक्षा; मानों परीक्षा मेरी थी। फिर पीछे तो प्रकाशक ने, शायद अपनी बिक्री के हित में, उस मेरी परीक्षा को 'फाँसी' बना दिया। उन दिनों देशप्रेम के शब्द से हवा तक गूँजती थी और मैं घर में बंद अपनी किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में ऊँघा करता था। सो कहानी लिखी गयी 'देश प्रेम' जिसमें दो प्रतापी पुरुष प्रत्यक्ष हुए। एक उनमें वाग्वीर तो दूसरे कर्मशूर। इसी सपाटे में मुझ अकर्मण्य ने स्पर्धा करके एक कहानी लिख डाली जो नाम से भी 'स्पर्धा' बन गयी। जैनी होकर यहाँ चींटी न मरती थी, वहाँ कहानी में बम और तमंचेवाले एक से एक बढ़कर जवान खड़े हो आये। बंगाल ने क्रांति का मंत्र फूका था; मुल्ला की दौड़ मसजिद तक तो होगी, मेरी घर से आगे तक न थी। शायद इसी से मुझे घर बैठे-बैठे बंगाल लाँघकर इटली तक जाना पड़ा। वहाँ के मेज़िनि को बख्श दिया, यह बहुत समझिये। नहीं तो गेरीबाल्डी को मेरी कलम की नोक के नीचे आना पड़ा और मेरा नचाया नाच नाचना पड़ा। अब सच कहता हूँ कि अगर उन कहानियों ने नहीं तो उनके लिखने ने मुझ साँस तोड़ते को साँस दी।

अब मानता हूँ एक यथार्थ होता है जिसके मुकाबले में दूसरा आदर्श होता है। होता होगा। उन मामलों में मैं कुछ जानता नहीं हूँ। अपने ही यथार्थ से मैं भला क्या खींच पाया? कोशिश करके तीस रुपए की नौकरी भी तो उसमें से मैं नहीं खींच सका। तब, जहाँ से ये तीन कहानियाँ खींच लाया और खींचकर उनके जोर से थोड़ा कुछ जी गया, उस तत्व को जो भी नाम दीजिये, उससे और उसके ऋण से बचकर मुझे कहाँ गति है? उससे टूट भी कैसे सकता हूँ? यथार्थ अगर वह नहीं है, तो फिर यथार्थ की

आवश्यकता भी मुझे नहीं है। उसी तरह आदर्श को भी उससे अलग होना या जानना मैं नहीं चाहता।

हमारे अंदर जो है, अव्यक्त है। मैला उसमें है, धौला उसमें है। उस सबको स्वीकार करके शनैः शनैः उसे बाहर व्यक्त रूप में निकाल देकर अपने को रिक्त करते जाना—मेरे खयाल में यह बड़ा काम है। इससे अलग सर्जन क्या होता होगा, वह मैं जानता नहीं हूँ।

यह तो कहानी लिखने में से आया। फिर उस कहानी के छपने में से आया, वह भी श्रेय के जमाखाते में ही जायेगा। दर्पण में अपने को देखते हैं, तब अपनापन हम पर खुलता है। छपने से यही हुआ। लिखा था तब तक मेरा था, छपकर निकला तो सबका हो गया। इस तरह मैं सबमें छिप गया और बँट गया। और जो अंदर दर्द था, बाहर खिलकर वही रंग दे आया। साथ ही यह करिश्मा हुआ कि इधर से कहानी गयी और उधर से एक मनीआर्डर चला आया। तीन में से दो कहानियाँ द्रव्य की भाषा में तब कुछ नहीं कर सकीं, सही; पर तीसरी ने जाकर वहाँ से जो मनीआर्डर चला दिया, सो एक बहुत ही तिलिस्मी बात हुई। इससे आत्मिक से अतिरिक्त कुछ शरीर का, इंद्रिय का स्वास्थ्य मिला, यह कहना चाहिए।

इसी पहले दौर में एक कहानी उठी और ज़रा चली कि मुझे उलझा बैठी। देखा कि मन में बड़े विकल्प उपज रहे हैं और कथा के तारों का ताना-बाना फैलता ही जा रहा है। सचमुच मैं तो घबरा गया। छापे में छह-आठ पृष्ठों में चीज़ आ जाये, यही तो बस है। पर यह बला तो इतने में समानेवाली नहीं दीखती। इस उलझन में तीन-चार सफ़े लिखे हुए मैंने दूर हटा फेंके। पर करने को कुछ था नहीं, और यह ज़रा लिखने से मिली ताज़गी तीन-चार दिन में चुककर खतम हो गयी। फिर वही मुर्झाहट। सोचूँ कि लिखूँ तो वही पुराने तार सिर में गोरखधंधा मचा दें। आखिर टालता कब तक, और उस गोरखधंधे से ही खेले चला गया और लिखे चला गया। इसी में बन आयी मेरी पहली किताब 'परख।'

'परख' में क्या श्रेय है और क्या प्रेय है—इसके उत्तर में मुझे निश्चय है कि साहित्य का अध्यापक और विद्यार्थी अत्यंत प्रामाणिक रूप में बहुत कुछ कह सकेगा। पर मैं इतना जानता हूँ कि उसके सत्यधन की व्यर्थता मेरी है, बिहारी की सफलता मेरी भावनाओं की है और कहो वह है जिसने मुझे व्यर्थ किया और जिसे मैंने अपनी समस्त भावनाओं का वरदान देना चाहा। यानी यथार्थ की धरती से उठकर मेरी भावना, धारणा और वासना अनायास भाव से उन सब चित्रों में बुन गयी हैं जिन्होंने एक पर एक आकर 'परख' को एक सूचना दी है।

इस ऊपर की बात से मेरा यह मतलब है कि लेखक को सीधे अपने जीवन में मिलने-

वाला लाभ, साहित्य का पहला लाभ है। शायद उसको व्यक्तित्व-लाभ ही कहना चाहिए। नहीं फिर प्रमुख श्रेय। यानी लिखने के द्वारा मैंने फिर क्या श्रेय देना चाहा है, यह गौण बात है। नाना चरित्रों की अवतारणाओं में से मैंने अपनी निजता में किन परिणतियों का उपभोग किया है, वही प्रथम और प्रधान बात है।

लेखक देने के लिए कुछ दे सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। पड़ौस का हलवाई जैसे तय कर सकता है कि आज मुझे यह इतना और वह उतना बनाना है, वैसे क्या कोई वृक्ष भी यह सोच सकता है कि इस बार मुझे सेब की जगह अपने ऊपर अनार उगाना है? जो स्वयं में है, उसके सिवा फल में कुछ और होगा ही कैसे? इसलिए सेब के यह तक सोचने की बात नहीं है कि मुझे फल में सेब देना है।

यह नहीं कि लेखक वृक्ष है। पर निश्चय लेखक हलवाई नहीं है। यानी अपने साहित्य द्वारा वह किसी इष्ट, श्रेय, या किसी अपने हेतु की प्रतिष्ठा करना चाहता हो तो यह लेखन-कर्म से असंगत बात नहीं है। लेकिन फिर वह इष्ट या उद्दिष्ट उसके लिए बौद्धिक प्रतिपादन का विषय नहीं होगा। अर्थात् भावना से अलग धारणा में, या कि वासना से अलग भावना में, उसकी स्थिति नहीं होगी। समूची मानसिकता में उसको रमा हुआ और समाया हुआ होना चाहिए।

अपने साहित्य में मैंने कुछ शब्द द्वारा कहा है, कुछ चित्र के द्वारा व्यक्त किया है। सचित्र यानी कथात्मक साहित्य। वहाँ लेखक तो कुछ कहता नहीं, कथा के पात्र ही बोलते हैं। फिर उनकी बातें उन-उनके अनुरूप होंगी। ऐसे उनमें परस्पर की अनुकूलता होना संभव नहीं है, बल्कि प्रतिकूलता और अंतर्विरोध होना अनिवार्य है। मुझे यह भी लगता है कि कथा, पात्र या व्यक्तित्व की एकता और निजता में जितना गहरा और गंभीर विरोध समा सके उतना ही उसका महत्व है। फिर कथा के किस पात्र, या पात्र के किस वाक्य, और समूची चीज़ के किस पहलू में उस गुह्य को देखा जाये जिसको श्रेय समझकर लेखक ने कलम उठायी है? स्पष्ट ही यह काम मुश्किल है और जोखिम से भरा है।

असल में तो एक कहानी, या एक पुस्तक, कुल मिलाकर एक प्रभाव है। उस प्रभाव की एकता में नाना तत्वों की अनेकता तो रहेगी ही। उन तत्वों की विविधता में रचना के श्रेय को भी विविध और विकेंद्रित नहीं देखना होगा।

सीधे शब्दों से जो बोलता है वह निबंध साहित्य तो, मैं मानता हूँ, मुझे पाठक के हाथों पकड़ायी दे ही देता होगा। कथा में व्यंजना और व्यंग्य का सहारा हो और उसके अभिप्राय के बारे में चाहे दुविधा हो, पर अपने निबंधों में तो काफी प्रत्यक्ष और स्थूल रूप से मैंने अपनी धारणा के श्रेय को खोला और कसा है।

यहाँ एक प्रश्न याद आता है जो स्वर्गीय प्रेमचंद से मैंने किया था। पूछा कि बताइये, आपके सारे लिखने का मूलभाव क्या है? तो सुनते ही कहा—'धन की दुश्मनी।'

मैं अपने से वही पूछूँ तो उत्तर मिले, 'बुद्धि की दुश्मनी।'

जानता हूँ, प्रेमचंद ने धन फेंका नहीं, और मैं बुद्धि को किसी मोल छोड़ नहीं सकता हूँ। लेकिन मेरे अंदर सबसे गहरी यह प्रतीति गड़ी है कि बुद्धि भरमाती है। अक्सर वह ऊपर मुँह करके श्रद्धा को खाती है। इंद्रियों की तरह बुद्धि भी पदार्थ के लिए है और पदार्थ-जगत के साथ निबटना ही उसका क्षेत्र है। शेष में उसे पूरी तरह श्रद्धा के अंकुश में रहकर नीची आँख करके चलना होगा।

तो एक तरह से, या दूसरी तरह से, सीधे या आड़े, वही-वही बात अपने साहित्य के द्वारा मैंने कहनी और देनी चाही है।

बुद्धि द्वैत में बनती और द्वैत पर चलती है। इसलिए, मेरे साहित्य का परम श्रेय मेरी ओर से होता है अखंड और अद्वैत सत्य। और व्यक्ति का उसमें अशेष आत्मार्पण उसी एकोपासना का प्राप्त रूप है—नानावर्ण संपूर्ण जगत के प्रति अपार धैर्य और अजस्र करुणा; जिसको एक शब्द में कहें, अगाध अहिंसा।

'अज्ञेय'

रमंते तत्र देवताः

अक्टूबर सन् १९४६ का कलकत्ता। तब हम लोग दंगे के आदी हो गये थे, अख़बार में इक्के-दुक्के खून और लूट-पाट की घटनाएँ पढ़कर तन नहीं सिहरता था, इतने से यह भी नहीं लगता था कि शहर की शांति भंग हो गयी। शहर बहुत से छोटे-छोटे हिंदुस्तान-पाकिस्तानों में बँट गया था, जिनकी सीमाओं की रक्षा पहरेदार नहीं करते थे, लेकिन जो फिर भी परस्पर अनुल्लंघ्य हो गये थे। लोग इस बँटी हुई जीवन-प्रणाली को लेकर भी अपने दिन काट रहे थे; मान बैठे थे कि जैसे जुकाम होने पर एक नासिका बंद हो जाती है तो दूसरी से श्वास लिया जाता है—तनिक कष्ट होता है तो क्या हुआ, कोई मर थोड़े ही जाता है ?—वैसे ही श्वास की तरह नागरिक जीवन भी बँट गया तो क्या हुआ···एक नासिका ही नहीं, एक फेफड़ा भी बंद हो जा सकता है और उसकी सड़न का विष सारे शरीर में फैलता है और दूसरे फेफड़े को भी आक्रांत कर लेता है, इतनी दूर तक रूपक को घसीट ले जाने की क्या ज़रूरत ?

बीच-बीच में इस या उस मुहल्ले में विस्फोट हो जाता था। तब थोड़ी देर के लिए उस या आसपास के मुहल्लों में जीवन स्थगित हो जाता था, व्यवस्था पटकी खा जाती थी और आतंक उसकी छाती पर चढ़ बैठता था। कभी दो एक दिन के लिए भी गड़बड़ रहती थी, तब बात कानोकान फैल जाती थी कि 'ओ पाड़ा भालो ना' और दूसरे मुहल्लों के लोग दो-चार दिन के लिए उधर आना-जाना छोड़ देते थे। उसके बाद दर्रा फिर उभर आता था और गाड़ी चल पड़ती थी·····

हठात् एक दिन कई मुहल्लों पर आतंक छा गया। ये वैसे मुहल्ले थे जिनमें हिंदुस्तान-पाकिस्तान की सीमाएँ नहीं बाँधी जा सकती थीं क्योंकि प्याज की परतों की तरह एक के अंदर एक जमा हुआ था। इनमें यह होता था कि जब कहीं आसपास कोई गड़बड़ हो, या गड़बड़ की अफवाह हो, तो उसका उद्भव या कारण चाहे हिंदू सुना जाय चाहे मुसलमान, सब लोग अपने-अपने किवाड़ बंद करके जहाँ के तहाँ रह जाते, बाहर गये हुए शाम को घर न लौटकर बाहर ही कहीं रात काट देते, और दूसरे-तीसरे दिन तक घर के लोग यह न जान पाते कि गया हुआ व्यक्ति इच्छापूर्वक कहीं रह गया है या कहीं रास्ते में मारा गया है...

मैं तब बालीगंज की तरफ रहता था। यहाँ शांति थी, और शायद ही कभी भंग होती थी। यों ख़बरें सब यहाँ मिल जाती थीं, और कभी कभी आगामी 'प्रोग्रामों' का कुछ पूर्वाभास भी। मंत्रणाएँ यहाँ होती थीं, शरणार्थी यहाँ आते थे, सहानुभूति के इच्छुक आकर अपनी गाथाएँ सुनाकर चले जाते थे·····

आतंक का दूसरा दिन था। तीसरे पहर घर के सामने बरामदे में आराम कुर्सी पर पड़े-पड़े मैं आने-जाने वालों को देख रहा था। 'आने-जाने वाले' यों भी अध्ययन की श्रेष्ठ सामग्री होते हैं, ऐसे आतंक के समय में तो और भी अधिक। तभी देखा, मेरे पड़ोस ही एक सिख सरदार साहब, अपने साथ तीन-चार और सिखों को लिये हुए घर की तरफ जा रहे हैं। ये अन्य सिख मैंने पहले उधर नहीं देखे थे—कौतूहल स्वाभाविक था, और फिर आज अपने पड़ोसी को लंबी किरपान लगाये देखकर तो और भी अचंभा हुआ। सरदार बिशनसिंह सिख तो थे, पर बड़े संकोची, शांतिप्रिय और उदार विचारों के; प्रतीक-रूप से किरपान रखते रहे हों तो रहे हों, मैंने देखी नहीं थी और ऐसे उद्धत ढंग से कोट के ऊपर कमरबंद के साथ लटकायी हुई तो कभी नहीं।

मैंने कुछ पंजाबी लहजा बनाकर कहा, 'सरदारजी, अज्ज किद्धर फ़ौजाँ चल्लियाँ ने?"

बिशनसिंह ने व्यस्त आँखों से मेरी ओर देखा। मानों कह रही हों, 'मैं जानता हूँ कि तुम्हारे लहजे पर मुस्कराकर तुम्हारा विनोद स्वीकार करना चाहिए, पर देखते तो हो, मैं फँसा हूँ···' स्वयं उन्होंने कहा, "फेर हाज़िर होवाँगा—"

टोली आगे बढ़ गयी।

जो लोग आराम कुर्सियों पर बैठकर आने-जाने वालों को देखा करते हैं, उन्हें एक तो देखने को बहुत कुछ मिलता है, दूसरे जो कुछ वह देखते हैं उसके साथ उनका रागात्मक लगाव तो ज़रा भी होता नहीं कि वह मन में जम जाय। मैं भी सरदार बिशनसिंह को भूल-सा गया था जब रात को वह मेरे यहाँ आये। लेकिन अचंभे को दबाकर मैंने कुर्सी दी और कहा, "आओ बैठो, बड़ी किरपा कीत्ती!"

वे बैठ गये। थोड़ी देर चुप रहे। फिर बोले, "अज जी बड़ा दुखी हो गया ए।"

मैंने पंजाबी छोड़कर गंभीर होकर कहा, "क्या बात है सरदारजी? ख़ैर तो है।"

"सब ख़ैर ही ख़ैर है इस अभागे मुल्क में, भाई साहब, और क्या कहूँ। मैं तो कहता हूँ, दंगा और खून-खराबा न हो तो कैसे न हो, जब कि हम रोज़ नयी जगह उसकी जड़ें रौंप आते हैं, फिर उन्हें सींचते हैं...मुझे तो अचंभा होता है, हमारी कौम बची कैसे रही अब तक!"

उनकी वाणी में दर्द था। मैंने समझा कि वे भूमिका में उसे बहा न लेंगे तो बात न कह पायेंगे, इसलिए चुप सुनता रहा। वे कहते गये, "सारे मुसलमान अरब और

फ़ारस और तातार से नहीं आये थे। सौ में एक होगा जिसको हम आज अरब या फ़ारस या तातार की नस्ल का कह सकें। और मेरा तो ख़याल है—ख़याल नहीं तजरुबा है, कि अरब या ईरानी बड़ा नेक, मिलनसार और अमनपसंद होता है। तातारियों से साबिका नहीं पड़ा। बाकी सारे मुसलमान कौन हैं? हमारे भाई, हमारे मज़लूम, जिनका मुँह हम हज़ारों बरसों से मिट्टी में रगड़ते आये हैं! वही आज वही मुँह उठाकर हम पर थूकते हैं, तो हमें बुरा लगता है। पर वे मुसलमान हैं। इसलिए हम खिसियाकर अपने और भाइयों को पकड़कर उनका मुँह मिट्टी में रगड़ते हैं! और भाइयों को ही क्यों, बहिनों को पैरों के नीचे रौंदते हैं, और चूँ नहीं करने देते क्योंकि चूँ करने से धरम नहीं रहता—"

आवेश में सरदार की जबान लड़खड़ाने लगी थी। वे क्षणभर चुप हो गये। फिर बोले, "बाबू साहब, आप सोचते होंगे, यह सिख होकर मुसलमानों का पक्ष करता है। ठीक है, उनसे किसी का वैर हो सकता है तो हमारा ही। पर आप सोचिये तो, मुसलमान हैं कौन? मज़लूम हिंदू ही तो मुसलमान हैं। हमने जिससे हिकारत की, वह हमसे नफ़रत करे तो क्या बुरा करता है—हमारा कर्ज़ ही तो अदा करता है न! मैं तो यह भी कहता हूँ कि यह ठीक न भी हो, तो भी हम नुक्स निकालनेवाले कौन होते हैं? इनसान को पहले अपना ऐब देखना चाहिए, तभी वह दूसरे को कुछ कहने लायक बनता है। आप नहीं मानते?"

मैंने कहा, "ठीक कहते हैं आप। लेकिन इनसान आखिर इनसान है, देवता नहीं।"

उन्होंने उत्तेजित स्वर में कहा, "देवता? आप कहते हैं देवता? काश कि वह इनसान भी हो सकता! बल्कि वह खरा हैवान भी होता तो भी कुछ बात थी—हैवान भी अपने नियम-कायदे से चलता है! लेकिन बहस करने नहीं आया, आप आज की बात ही सुन लीजिए।"

मैंने कहा, "आप कहिये। मैं सुन रहा हूँ।"

"आप जानते हैं कि मेरे घर के पास गुरुद्वारा है। वहाँ जब-तब कुछ लोगों ने पनाह पायी है, और जब-तब मैंने भी वहाँ पहरा दिया है। यह कोई तारीफ़ की बात नहीं, गुरुद्वारे की सेवा का भी एक दर्जा है, पनाह देने की भी रीत चली आयी है, इसीलिए यह हो गया है। हम लोगों ने इनसानियत की कोई नयी ईजाद नहीं की। ख़ैर। कल मैं शामबाजार से वापस आ रहा था तो देखा, रास्ते में अचानक मिनटों में सन्नाटा छाता जा रहा है। दो एक ने मुझे भी पुकारकर कहा, 'घर जाओ, दंगा हो गया है,' पर यह न बता पाये कि कहाँ। ट्राम तो बंद थी ही।

"धरमतल्ले के पास मैंने देखा एक औरत अकेली घबड़ाई हुई आगे दौड़ती चली जा रही है, एक हाथ में एक छोटा बंडल है, दूसरे में ज़ोर से एक छोटा मनीबेग दाबे है। रो रही है। देखने से भद्दरलोक की थी। मैंने सोचा, भटक गयी है और डरी हुई

है, यों भी ऐसे वक्त में अकेली जाना—और फिर बंगालिन का—ठीक नहीं, पूछकर पहुँचा दूँ। मैंने पूछा, 'माँ तुम कहाँ जाओगी?' पहले तो वह और सहमी, फिर देखकर कि मैं मुसलमान नहीं सिख हूँ, ज़रा सँभली। मालूम हुआ कि उत्तरी कलकत्ते से उसका खाविंद और वह दोनों धरमतल्ले आये थे, तय हुआ था कि दोनों अलग अलग सामान खरीद कर के० सी० दास की दुकान पर नियत समय पर मिल जायेंगे और फिर घर जायेंगे। इसी बीच गड़बड़ हो गयी, वह सन्नाटे से डरकर घर भागी जा रही है—दास की दुकान पर नहीं गयी, रास्ते में चाँदनी पड़ती है जो उसने सदा सुना है कि मुसलमानों का गढ़ है।

"मैंने उससे कहा कि डरे नहीं, मेरे साथ धरमतल्ला पार कर ले. अगर के० सी० दास की दुकान पर उसका आदमी मिल गया तो ठीक, नहीं तो वहाँ से बालीगंज की ट्राम तो चलती होगी, उसमें जाकर गुरुद्वारे में रात रह जायगी और सबेरे मैं उसे घर पहुँचा आऊँगा। दिन छिप चला था, बिजली सड़कों पर वैसे ही नहीं है, ऐसे में पाँच छः मील पैदल दंगे का इलाका पार करना ठीक नहीं है।" इतना कहकर सरदार बिशन-सिंह क्षण भर रुके, और मेरी ओर देखकर बोले, "बताइये, मैंने ठीक कहा कि ग़लत? और मैं क्या कर सकता था?"

"ठीक ही तो कहा, और रास्ता ही क्या था?"

"मगर ठीक नहीं कहा। बाद में पता लगा कि मुझे उसे अकेली भटकने देना चाहिए था।"

"क्यों?" मैंने अचकचाकर पूछा।

"सुनिये।" सरदार ने एक लंबी साँस ली। "के० सी० दास की दुकान बंद थी। पति-देवता का कोई निशान नहीं था। मैं उस औरत को ट्राम में बिठाकर यहाँ ले आया। रात वह गुरुद्वारे के ऊपरवाले कमरे में रही। मैं तो अकेला हूँ आप जानते हैं, मेरी बहिन ने उसे वहीं ले जाकर खाना खिलाया और बिस्तरा वगैरा दे आयी। सबेरे मैंने एक सिख ड्राइवर से बात करके टैक्सी की, और ढूँढ़ता हुआ उसे उसके घर ले गया। शामपुकुर लेन में था—एकदम उत्तर में। दरवाज़ा बंद था, हमने खटखटाया तो एक सुस्त-से महाशय बाहर निकले—पति-देवता।"

"आप लोगों को देखते ही उछल पड़े होंगे?"

सरदार क्षण भर चुप रहे।

"हाँ, उछल तो पड़े। लेकिन बहू को देखकर नहीं, मुझे देखकर।" उन्होंने फिर एक लंबी साँस ली। "महाशय के० सी० दास पर नहीं ठहरे थे, दंगे की खबर हुई तो कहीं एक दोस्त के यहाँ चले गये थे। रात वहीं रहे थे, हमसे कुछ पहले ही लौटकर आये थे। आँखें भारी थीं। दरवाज़ा खोलकर मुझे देखकर चौंके, फिर मेरे पीछे स्त्री को देख-

कर तनिक ठिठके और खड़े-खड़े बोले, 'आप कौन ?' मैंने कहा, 'पहले इन्हें भीतर ले जाइये, फिर मैं सब बतलाता हूँ।' स्त्री पहले ही सकुची झुकी खड़ी थी, इस बात पर उसने घूँघट ज़रा आगे सरकाकर अपने को और भी समेट-सा लिया।"

बिशनसिंह फिर ज़रा चुप रहे, मैं भी चुप रहा।

"पति ने फिर पूछा, 'ये रात आपके यहाँ रहीं ?' मैंने कहा, 'हाँ, हमारे गुरुद्वारे में रहीं। शाम को यहाँ आना मुमकिन नहीं था।' उन्होंने फिर कहा, 'आपके बीवी-बच्चे हैं ?' मैंने कहा, 'नहीं, मेरी विधवा बहिन साथ रहती है, पर इससे आपको क्या ?'

"उन्होंने मुझे जवाब नहीं दिया। वहीं से स्त्री की ओर उन्मुख होकर बंगाली में पूछा, 'तुम रात को क्या जाने कहाँ रही हो, सबेरे तुम्हें यहाँ आते शरम न आयी ?'" सरदार बिशनसिंह ने रुककर मेरी ओर देखा।

मैंने कहा, "नीच !"

बिशनसिंह के चेहरे पर दर्दभरी मुस्कान झलककर खो गयी। बोले, "मैं न जाने क्या करता उस आदमी को—और सोचता हूँ कि स्त्री भी न जाने क्या जवाब देती। लेकिन औरत जात का जवाब न देना भी कितना बड़ा जवाब होता है, इसको आजकल का कीड़ा इनसान क्या समझता है ? मैंने पीछे धमाका सुनकर मुड़कर देखा, वह औरत गिर गयी थी—बेहोश होकर। मैं फौरन उठाने को झुका, पर उस आदमी ने ऐसा तमाचा मारा था कि मेरे हाथ ठिठक गये। मैंने उसी से कहा, 'उठाओ, पानी का छींटा दो—' पर वह सरका नहीं, फिर उसकी ढबर-ढबर आँखें छोटी होकर लकीरें-सी बन गयीं, और एकाएक उसने दरवाजा बंद कर दिया।"

मैं स्तब्ध सुनता रहा। कुछ कहने को न मिला।

"लोग इकट्ठे होने लगे थे। मैं उस स्त्री की बात सोचकर ज्यादा भीड़ करना भी नहीं चाहता था। ड्राइवर की मदद से मैंने उसे टैक्सी में रखा और घर ले आया। बहिन को उसकी देखभाल करने को कहके बाबा बचित्तरसिंह के पास गया—वह हमारे बुजुर्ग हैं और गुरुद्वारे के ट्रस्टी। वहीं हम लोगों ने मीटिंग करके सलाह की कि क्या किया जाय। कुछ की तो राय थी कि उस आदमी को कत्ल कर देना चाहिए पर उससे उसकी विधवा का मसला तो हल न होता। फिर यही सोचा गया कि पाँच सरदारों का जत्था गुरुद्वारे की तरफ से उस औरत को उसके घर लेकर जाय, और उसके आदमी से कहे कि या तो इसको अपनाकर घर में रखो या हम समझेंगे कि तुमने गुरुद्वारे की बेइज़्ज़ती की है और तुम्हें काट डालेंगे।"

"आप शायद कल तीसरे पहर वहीं से लौट रहे होंगे—"

"हाँ। नहीं तो आप जानते हैं मैं वैसे किरपान नहीं बाँधता। एक जमाने में जिन वजूहात से गुरुओं ने किरपान बाँधना धर्म बताया था, आज उनके लिए राइफल से

अनुपम—(तूलिका चलाता हुआ) काम ख़तम होता देखकर ? हुँ (व्यंगपूर्वक) चित्रकला के संबंध में, (रुककर) देखता हूँ, आपका ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा है...

तिवारी—(खिसियायी हँसी हँसकर) हें हें...अरे कहाँ भाई !...हमसे तो प्रत्येक कला कोसों दूर है...(तनिक चुप रह) तो कब तक पूरा हो जायगा यह चित्र ?

अनुपम—(हँसता है; जैसे तिवारी का उपहास कर रहा हो) बड़ा विचित्र सवाल है।

तिवारी—(खिसियाकर) क्यों क्या बात विचित्र है ?

अनुपम—चित्र कब पूरा होगा—इस विषय में मैं क्या कह सकता हूँ ? ईश्वर अवश्य कह सकता है—यदि उसका अस्तित्व है तो।

तिवारी—(परेशानी से) क्या मतलब ?

अनुपम—(हाथ फैलाता हुआ) मतलब यह कि मैं कोई निश्चित तारीख नहीं दे सकता कि उस तारीख़ को यह चित्र समाप्त हो जायगा। हो सकता है, यह दो हफ़्ते और ले, या यह भी हो सकता है कि यह महीनों तक चले।

तिवारी—(लज्जित-सा) हाँ हो सकता है।

अनुपम—और इसका भी मतलब यह है कि चित्रकार की दृष्टि में उसका चित्र सदैव ही अपूर्ण और अधूरा रहता है। हर बार उसे अपनी रचना में कोई न कोई कमी या खटकनेवाली वस्तु दीख पड़ती है और वह उसे ठीक करते समय यही सोचता है कि चित्र अभी अधूरा है। उसे पूरा होने में अभी और समय लगेगा। (ठहरकर) अंत में एक दिन ऐसा आ जाता है कि वह ऊब उठता है और कह देता है कि उसका चित्र पूरा हो गया है यद्यपि वह स्वयं जानता है कि यह झूठ है और वह लोगों के साथ अपने को भी धोखा दे रहा है। (रुककर तिवारी के कंधे पर हाथ मार मुस्कराते हुए) समझे जी तिवारी महाशय। (फिर रुककर) हटाओ जी इन बातों को। असली बात तो आप छोड़ ही बैठे। कहाँ रहे इतने दिनों तक ? बहुत दिनों बाद आये हो।

तिवारी—(हँसता हुआ-सा) हाँ sss। पूरे एक माह बाद आया हूँ। लेकिन मैं तो प्रधान-जी से कहकर गया था, (तनिक ठहरकर) मैं क्या गया था, बल्कि उन्होंने ही मुझे भेजा था। उन्होंने क्या कहा नहीं ?

अनुपम—नहीं तो। इस संबंध में कभी बात तक भी नहीं हुई। हाँ एक दिन प्रधानजी यह अवश्य कह रहे थे कि संघ के कार्यकर्त्ता आजकल इधर-उधर बिखरे हुए हैं इस कारण यहाँ का काम बहुत ढीला पड़ रहा है। रशीद और दिवाकर भी लगभग दो-तीन हफ़्तों से ऑफिस से गोल हैं। शायद वे भी कहीं बाहर गये हुए हों।

हिंदू हैं न, इसलिए यही सोचते हैं। वह मर जायगी ; छुटकारा हो जायगा। हिंदू धर्म उदार है न ; मारता नहीं, मरने का सब तरह से सुभीता कर देता है। इसमें दो फ़ायदे हैं—एक तो कभी चूक नहीं होती, दूसरे यह तरीका दया का भी है। लेकिन यह बताइये, अगर आदमी पशु है तो औरत क्यों देवता हो? देवता मैं जान-बूझकर कहता हूँ, क्योंकि इनसान का इनसाफ़ तो देवतों से भी ऊँचा उठ सकता है। देवता सूद न लें, धेले-पाई की वसूली पूरी करते हैं।—करते हैं कि नहीं?"

मैंने कहा, "सरदार साहब, आपको सदमा पहुँचा है इसीलिए आप इतनी कड़वी बात कह रहे हैं। मैं उस आदमी को अच्छा नहीं कहता, पर एक आदमी की बात को आप हिंदू जाति पर क्यों थोपते हैं?"

"क्या वह सचमुच एक आदमी की बात है? सुनिये, मैं जब सोचता हूँ कि क्या हो तो उस आदमी के साथ इनसाफ़ हो, तब यही देखता हूँ कि वह औरत घर से दुतकारी जाकर मुसलमान हो मुसलमान जने, ऐसे मुसलमान जो एक-एक सौ-सौ हिंदुओं को मारने की कसम खाये। और आप तो साइकालोजी पढ़े हैं न, आप समझेंगे—हिंदू औरतों के साथ सचमुच वही करे जिसकी झूठी तोहमत उसकी माँ पर लगायी गयी! देवताओं का इनसाफ़ तो हमेशा से यही चला आया है—नफ़रत के एक-एक बीज से हमेशा सौ-सौ ज़हरीले पौधे उगे हैं। नहीं तो यह जंगल यहाँ उगा कैसे, जिसमें आज हम-आप खो गये हैं और क्या जाने कभी निकलेंगे कि नहीं? हम रोज़ दिन में कई बार नफ़रत का नया बीज बोते हैं और जब पौधा फलता है तो चीखते हैं कि धरती ने हमारे साथ धोखा किया!"

मैं काफ़ी देर तक चुप रहा। सरदार बिशनसिंह की बात चमड़ी के नीचे कंकड़-सी रड़कने लगी। वातावरण बोझीला हो गया। मैंने उसे कुछ हल्का करने के लिए कहा, "सिख कौम की शिवेलरी मशहूर है। देखता हूँ, उस बिचारी का दुःख आपकी शिवेलरी को छू गया है!"

उन्होंने उठते हुए कहा, "मेरी शिवेलरी!" और थोड़ी देर बाद फिर ऐसे स्वर में जिसमें एक अजीब गूँज थी, "मेरी शिवेलरी, भाई साहब!"

उन्होंने मुँह फेर लिया, लेकिन मैंने देखा, उनके ओठों की कोर काँप रही है—हल्की-सी लेकिन बड़ी बेबसी के साथ·····

राजशेखर वसु

गामानवों की कथा

जिस समय की बात कहता हूँ, उससे प्रायः तीस बरस पहले मानवजाति पृथ्वी पर से लुप्त हो गयी थी। प्रश्न उठ सकता है कि हम सभी जब पंचत्व प्राप्त हो गये तब यह कथा लिखी किसने, याकि पढ़ी ही किसने? किंतु संदेह करने का कोई कारण नहीं है — लेखक और पाठक तो देश-काल से परे, त्रिलोकदर्शी और त्रिकालज्ञ होते हैं। अब जो हुआ सो सुनिये।

बड़े-बड़े राष्ट्रों के प्रभुओं के बीच मनोमालिन्य अनेक दिन से चल रहा था। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते वह ऐसी अवस्था तक पहुँच गया कि उसके मिटने की आशा नहीं रही। सब अपनी-अपनी भाषा में द्विजेंद्रलाल का यह गान राष्ट्रगीत की भाँति गाने लगे : "हम ईरान देश के काजी, जो बेटा इनकार करे वह निश्चय पूरा पाजी!" अंत में जब नेता-गण अपने-अपने पक्ष के ज्ञानी-गुणियों से मंत्रणा करके इस परिणाम पर पहुँच गये कि बदजात विपक्षी को बिल्कुल निर्मूल किये बिना जीवन व्यर्थ है, तब उन्होंने परस्पर एक दूसरे पर निहिलियम बम फेंकना आरंभ किया। विज्ञान की इस नूतन ईजाद के सामने पहले का यूरेनियम (एटम) बम रुई-भरे तकिये के समान था।

प्रत्येक राष्ट्र के बम-विशारदों ने आशा की थी कि अन्य राष्ट्रों की तय्यारी पूरी होने से पहले ही वे उनका काम तमाम कर दे सकेंगे। किंतु दुर्दैववश सभी का आयोजन हो चुका था, और प्रत्येक ने जासूसों के द्वारा एक दूसरे का भेद पाकर एक ही दिन एक ही शुभ लग्न में ब्रह्मास्त्र छोड़ा था।

सभ्य, अर्धसभ्य, असभ्य, कोई देश नहीं बचा। समग्र मानवजाति, उसकी समस्त कीर्ति, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, पेड़-पत्ते, सब क्षण-भर में ध्वस्त हो गये। किंतु प्राण बड़ा कठिन पदार्थ है, उसकी जड़ सहज नहीं मिटती। सागर तल में, पर्वत-कंदराओं में, जन-हीन द्वीपों में और अन्य कुछ दुष्प्रवेश्य स्थानों में कुछ उद्भिज और इतर प्राणी बचे रह गये। उनका विस्तारित विवरण देने की यहाँ जरूरत नहीं; जिनका यह इतिहास है उन्हीं की कथा कहता हूँ।

लंदन, पैरिस, न्यूयार्क, पीकिंङ्, कलकत्ता प्रभृति बड़े-बड़े शहरों में सड़क के नीचे जो गहरे परनाले थे उनमें लाखों चूहे रहते थे। उनमें अधिकांश तो बड़े बमों के प्रताप

शांतिपूर्वक नहीं रह सकते ? हमारी वर्तमान सभ्यता की तुलना नहीं हो सकती, हमने विश्व के रहस्यों का उद्घाटन किया है, प्रचंड प्राकृतिक शक्तियों को बाँधकर काम में लगाया है, शारीरिक और सामाजिक नाना व्याधियों का उच्छेद किया है, दर्शन और नीतिशास्त्र का अगाध ज्ञान प्राप्त किया है। हमारे राष्ट्रनेता और महा महा ज्ञानीगण अगर मिलकर यत्न करें तो विभिन्न जातियों की स्वार्थ बुद्धि का समन्वय अवश्य हो सकेगा।

जन-हितैषी पंडितों की देख-रेख में राष्ट्रपतियों ने एक महती विश्व सभा को आमंत्रित किया। विभिन्न देशों से बड़े-बड़े राजनीतिक, दार्शनिक, विज्ञानी प्रभृति बड़े उत्साह के साथ उस सभा में उपस्थित हुए। धूम-धाम के कारण बहुत-से तमाशाई भी आ जुटे। जिनकी वक्तृताएँ हुईं, उनके असल नाम गामानवी भाषा में लिखने से पाठकों को असुविधा हो सकती है, इसलिए कृत्रिम नाम देता हूँ जो सुनने में भी बुरे न लगें और जिनका उच्चारण भी अनायास हो सके।

हमारे देश में सब प्रकार की सभाओं में कार्यारंभ से पहले संगीत का और कार्यावली के बीच-बीच कुमारी अमुक-अमुक के नृत्य का दस्तूर है। पराक्रमी गामानवों में रसबोध कम है, उनका मत है कि पहले सोलह आने काम, पीछे मनोरंजन। उनका जीवनकाल भी कम है, इसलिए वक्तृतादि संक्षेप में और जल्दी से समाप्त हो जाती है। आरंभ में ही सभापति मनस्वी श्री चड्लिड् ने सबको सूचना दी कि इस सभा में जैसे भी हो विश्वशांति की व्यवस्था करनी ही होगी, अन्यथा गामानव जाति का निस्तार नहीं।

सभापति के अभिभाषण के उपरांत एक अनतिसमृद्ध राष्ट्र के प्रतिनिधि काउंट नॉटिनफ़ बोले, जगत् की संपत्ति का विभाजन बिल्कुल भी न्यायसम्मत तरीके पर नहीं हुआ है, इसीलिए विश्वशांति नहीं होती। दो-चार राष्ट्रों ने असत् उपायों से बड़े-बड़े साम्राज्य बनाकर प्रभूत कच्चा माल और आज्ञाकारी निस्तेज प्रजा पा ली है, उपनिवेश भी स्थापित किये हैं। किंतु हम वंचित हुए हैं, हमें बढ़ने नहीं दिया जाता। युद्ध-विग्रह बंद करना हो तो विश्व-संपत्ति का बराबर भाग हमें भी मिलना चाहिए।

सबसे बड़े साम्राज्य के प्रतिनिधि लार्ड ग्रैबर्थ ने कहा, जगत् में शांतिरक्षा के लिए ही यह आवश्यक है कि हमारे पास विशाल साम्राज्य रहे ; साम्राज्य चलाने की जितनी योग्यता हममें है उतनी और किसी में नहीं। हमारे शक्तिमान होने से आप सब निरापद रह सकेंगे। जहाँ तक कच्चे माल का प्रश्न है, हम उपयुक्त शर्तों पर कुछ माल दे सकते हैं। हमारे संरक्षण में जो असभ्य अथवा अर्धसभ्य जातियाँ रहती हैं, उनका लालच न करें। हम तो उन देशवासियों के केवल संरक्षक हैं, उनके योग्य होते ही देश उन्हें सौंप कर भारमुक्त होंगे। हम किसी का अनिष्ट नहीं करते ; यदि विपद आये तो हमारे बंधु कीपॉफ़ का विशाल देश ही उसका दायी होगा। इनके देश में स्वाधीन उद्योग-व्यापार नहीं हैं, सब कुछ राष्ट्र के अधीन है। समाज का मस्तक स्वरूप जो अभिजात

से नष्ट हो गये, किंतु कुछ जवान चूहे-चुहिया बचे रह गये। केवल बचे ही नहीं रहे, वरन् बमों से निकली हुई गामा-रश्मियों के प्रभाव से उनके जातिगत लक्षणों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया—जिसे जीव-विज्ञानी 'म्यूटेशन' कहते हैं। कुछ ही पीढ़ियों में उनके बाल और पूँछ झड़ गयी, अगले पैर हाथों-से हो गये और पिछले पैर ऐसे मजबूत हो गये कि वे सीधे खड़े होना और चलना सीख गये। मस्तिष्क बड़ा हुआ, कंठ से तीखी किचकिच ध्वनि के बदले स्पष्ट भाषा फूट निकली। संक्षेप में मानवों के सब लक्षण उनमें प्रकट हो गये। कर्ण जैसे सूर्य के वर से सहजात कवच-कुंडल लेकर ही जन्मे थे, वैसे ही गामा-रश्मियों के प्रभाव से ये भी सहजात प्रखर बुद्धि एवं त्वरित उन्नति की संभावना लेकर धरातल पर आविर्भूत हुए। एक विषय में चूहा जाति पहले से ही मानवों से श्रेष्ठ थी—उनमें वंशवृद्धि बड़ी द्रुत होती थी। अब यह शक्ति और भी बढ़ गयी।

इन नये लांगूल विहीन द्विपदचारी प्रतिभाशाली प्राणियों को चूहा कहकर अपमान करना नहीं चाहता। इन्हें मानव गिनना ही उचित जान पड़ता है। तथापि हम जैसे प्राचीन मानव से प्रभेद करने के लिये गामा-रश्मि के इन वरपुत्रों को गामानव कहूँगा।

यहाँ पर जरा जटिल तत्व की बात कहनी होगी। जो लोग इतिहास की गवेषणा करते हैं, वे वंश-परंपरा का हिसाब लगाते समय यह मानकर चलते हैं कि मोटे तौर पर मानव की एक पीढ़ी पचीस वर्ष की होती है। अतएव अठारह हजार वर्ष को हम १२० पीढ़ी कह सकते हैं। हम से ऊपर की एक सौ इक्कीसवीं पीढ़ी कैसी थी? नृतत्व के विशारद कहते हैं कि वे प्राचीन प्रस्तर युग के मानव थे जो खेती करना नहीं जानते थे, कपड़ा नहीं पहनते थे, राँधते नहीं थे, कच्चा मांस खाते थे और गुफावासी थे। विचार कर देखिये, केवल १२० पीढ़ी में हमारी कैसी आश्चर्यकारी उन्नति हुई! हमारी जैसे पचीस वर्षों की एक पीढ़ी, चूहों से उद्भूत गामानवों की वैसे ही पंद्रह दिन की एक पीढ़ी हुई क्योंकि चूहे जन्मांतर पंद्रहवें दिन से वंशवृद्धि करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। मानवजाति के ध्वंस के बाद जो तीस वर्ष बीते, उस अवधि में गामानवों की १२० पीढ़ियाँ हो गयीं। अर्थात् गामानवों के तीस वर्ष हमारे १८,००० वर्षों के समान हुए। विश्वास न हो तो गणित लगाकर देख सकते हैं।

इन सुदीर्घ तीस वर्षों में गामानव अत्यंत द्रुत गति से सभ्यता के शिखर पर जा उपस्थित हुआ। पूर्वमानव जिस विद्या, कला और ऐश्वर्य का अहंकार करता वह सब गामानव ने प्राप्त कर लिया। अवश्य ही उसकी सब शाखाएँ समान रूप से सभ्य और विकसित नहीं हुईं; उनमें भी जाति भेद; राजनीतिक भेद, छोटे-बड़े राष्ट्र, साम्राज्य, पराधीन प्रजा, द्वेष-हिंसा और वाणिज्यिक प्रतियोगिता प्रकट हुए, युद्ध विग्रह आदि घटित होते रहे। बार-बार मारात्मक संघर्षों के उपरांत विभिन्न देशों के दूरदर्शी गामानवों को सुबुद्धि प्राप्त हुई। झगड़े की क्या आवश्यकता है, हम सब क्या एकमत होकर

से नष्ट हो गये, किंतु कुछ जवान चूहे-चुहिया बचे रह गये। केवल बचे ही नहीं रहे, वरन् बमों से निकली हुई गामा-रश्मियों के प्रभाव से उनके जातिगत लक्षणों में आश्चर्यजनक परिवर्तन हो गया—जिसे जीव-विज्ञानी 'म्यूटेशन' कहते हैं। कुछ ही पीढ़ियों में उनके बाल और पूँछ झड़ गयी, अगले पैर हाथों-से हो गये और पिछले पैर ऐसे मजबूत हो गये कि वे सीधे खड़े होना और चलना सीख गये। मस्तिष्क बड़ा हुआ, कंठ से तीखी किचकिच ध्वनि के बदले स्पष्ट भाषा फूट निकली। संक्षेप में मानवों के सब लक्षण उनमें प्रकट हो गये। कर्ण जैसे सूर्य के वर से सहजात कवच-कुंडल लेकर ही जन्मे थे, वैसे ही गामा-रश्मियों के प्रभाव से ये भी सहजात प्रखर बुद्धि एवं त्वरित उन्नति की संभावना लेकर धरातल पर आविर्भूत हुए। एक विषय में चूहा जाति पहले से ही मानवों से श्रेष्ठ थी—उनमें वंशवृद्धि बड़ी द्रुत होती थी। अब यह शक्ति और भी बढ़ गयी।

इन नये लांगूल विहीन द्विपदचारी प्रतिभाशाली प्राणियों को चूहा कहकर अपमान करना नहीं चाहता। इन्हें मानव गिनना ही उचित जान पड़ता है। तथापि हम जैसे प्राचीन मानव से प्रभेद करने के लिये गामा-रश्मि के इन वरपुत्रों को गामानव कहूँगा।

यहाँ पर जरा जटिल तत्व की बात कहनी होगी। जो लोग इतिहास की गवेषणा करते हैं, वे वंश-परंपरा का हिसाब लगाते समय यह मानकर चलते हैं कि मोटे तौर पर मानव की एक पीढ़ी पचीस वर्ष की होती है। अतएव अठारह हज़ार वर्ष को हम १२० पीढ़ी कह सकते हैं। हम से ऊपर की एक सौ इक्कीसवीं पीढ़ी कैसी थी? नृतत्व के विशारद कहते हैं कि वे प्राचीन प्रस्तर युग के मानव थे जो खेती करना नहीं जानते थे, कपड़ा नहीं पहनते थे, राँधते नहीं थे, कच्चा मांस खाते थे और गुफावासी थे। विचार कर देखिये, केवल १२० पीढ़ी में हमारी कैसी आश्चर्यकारी उन्नति हुई! हमारी जैसे पचीस वर्षों की एक पीढ़ी, चूहों से उद्भूत गामानवों की वैसे ही पंद्रह दिन की एक पीढ़ी हुई क्योंकि चूहे जन्मांतर पंद्रहवें दिन से वंशवृद्धि करने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। मानवजाति के ध्वंस के बाद जो तीस वर्ष बीते,उस अवधि में गामानवों की १२० पीढ़ियाँ हो गयीं। अर्थात् गामानवों के तीस वर्ष हमारे १८,००० वर्षों के समान हुए। विश्वास न हो तो गणित लगाकर देख सकते हैं।

इन सुदीर्घ तीस वर्षों में गामानव अत्यंत द्रुत गति से सभ्यता के शिखर पर जा उपस्थित हुआ। पूर्वमानव जिस विद्या, कला और ऐश्वर्य का अहंकार करता वह सब गामानव ने प्राप्त कर लिया। अवश्य ही उसकी सब शाखाएँ समान रूप से सभ्य और विकसित नहीं हुईं; उनमें भी जाति भेद; राजनीतिक भेद, छोटे-बड़े राष्ट्र, साम्राज्य, पराधीन प्रजा, द्वेष-हिंसा और वाणिज्यिक प्रतियोगिता प्रकट हुए, युद्ध विग्रह आदि घटित होते रहे। बार-बार मारात्मक संघर्षों के उपरांत विभिन्न देशों के दूरदर्शी गामानवों को सुबुद्धि प्राप्त हुई। झगड़े की क्या आवश्यकता है, हम सब क्या एकमत होकर

शांतिपूर्वक नहीं रह सकते ? हमारी वर्तमान सभ्यता की तुलना नहीं हो सकती, हमने विश्व के रहस्यों का उद्घाटन किया है, प्रचंड प्राकृतिक शक्तियों को बाँधकर काम में लगाया है, शारीरिक और सामाजिक नाना व्याधियों का उच्छेद किया है, दर्शन और नीतिशास्त्र का अगाध ज्ञान प्राप्त किया है। हमारे राष्ट्रनेता और महा महा ज्ञानीगण अगर मिलकर यत्न करें तो विभिन्न जातियों की स्वार्थ बुद्धि का समन्वय अवश्य हो सकेगा।

जन-हितैषी पंडितों की देख-रेख में राष्ट्रपतियों ने एक महती विश्व सभा को आमंत्रित किया। विभिन्न देशों से बड़े-बड़े राजनीतिक, दार्शनिक, विज्ञानी प्रभृति बड़े उत्साह के साथ उस सभा में उपस्थित हुए। धूम-धाम के कारण बहुत-से तमाशाई भी आ जुटे। जिनकी वक्तृताएँ हुईं, उनके असल नाम गामानवी भाषा में लिखने से पाठकों को असुविधा हो सकती है, इसलिए कृत्रिम नाम देता हूँ जो सुनने में भी बुरे न लगें और जिनका उच्चारण भी अनायास हो सके।

हमारे देश में सब प्रकार की सभाओं में कार्यारंभ से पहले संगीत का और कार्यावली के बीच-बीच कुमारी अमुक-अमुक के नृत्य का दस्तूर है। पराक्रमी गामानवों में रसबोध कम है, उनका मत है कि पहले सोलह आने काम, पीछे मनोरंजन। उनका जीवनकाल भी कम है, इसलिए वक्तृतादि संक्षेप में और जल्दी से समाप्त हो जाती है। आरंभ में ही सभापति मनस्वी श्री चङ्लिङ् ने सबको सूचना दी कि इस सभा में जैसे भी हो विश्वशांति की व्यवस्था करनी ही होगी, अन्यथा गामानव जाति का निस्तार नहीं।

सभापति के अभिभाषण के उपरांत एक अनतिसमृद्ध राष्ट्र के प्रतिनिधि काउंट नॉटिनफ़ बोले, जगत् की संपत्ति का विभाजन बिल्कुल भी न्यायसम्मत तरीके पर नहीं हुआ है, इसीलिए विश्वशांति नहीं होती। दो-चार राष्ट्रों ने असत् उपायों से बड़े-बड़े साम्राज्य बनाकर प्रभूत कच्चा माल और आज्ञाकारी निस्तेज प्रजा पा ली है, उपनिवेश भी स्थापित किये हैं। किंतु हम वंचित हुए हैं, हमें बढ़ने नहीं दिया जाता। युद्ध-विग्रह बंद करना हो तो विश्व-संपत्ति का बराबर भाग हमें भी मिलना चाहिए।

सबसे बड़े साम्राज्य के प्रतिनिधि लार्ड ग्रैबर्थ ने कहा, जगत् में शांतिरक्षा के लिए ही यह आवश्यक है कि हमारे पास विशाल साम्राज्य रहे ; साम्राज्य चलाने की जितनी योग्यता हममें है उतनी और किसी में नहीं। हमारे शक्तिमान होने से आप सब निरापद रह सकेंगे। जहाँ तक कच्चे माल का प्रश्न है, हम उपयुक्त शर्तों पर कुछ माल दे सकते हैं। हमारे संरक्षण में जो असभ्य अथवा अर्धसभ्य जातियाँ रहती हैं, उनका लालच न करें। हम तो उन देशवासियों के केवल संरक्षक हैं, उनके योग्य होते ही देश उन्हें सौंप कर भारमुक्त होंगे। हम किसी का अनिष्ट नहीं करते ; यदि विपद आये तो हमारे बंधु कीपॉफ़ का विशाल देश ही उसका दायी होगा। इनके देश में स्वाधीन उद्योग-व्यापार नहीं हैं, सब कुछ राष्ट्र के अधीन है। समाज का मस्तक स्वरूप जो अभिजात

और धनिक श्रेणियाँ होती हैं वे वहाँ हैं ही नहीं। इनके कुदृष्टांत से हमारे श्रमजीवी बिगड़े जा रहे हैं। कुछ दिन बाद ही आप लोग देखेंगे, इनकी दुर्नीति और सस्ता माल सारे जगत् को छा लेगा ; और हम सबके समाज, धर्म और व्यवसाय का सर्वनाश हो जायगा। यदि शांति चाहते हैं तो पहले इनको ठीक कीजिये।

जनरल कीयॉफ़ अपनी मोटी-मोटी मूँछें मरोड़ते हुए बोले, बंधुवर लार्ड ग्रैबर्थ बिल्कुल झूठ बोल रहे हैं यह आप सब समझते हैं। उनका राष्ट्र ही हम सब को दबाये हुए है, और कई बार घूस दे-देकर हमारे देश में विप्लव कराने की चेष्टा कर चुका है। इसका प्रतिशोध कभी किया ही जायगा. अभी अधिक कुछ कहना नहीं चाहता।

पराधीन देश के जन-नेता अबलदासजी ने कहा, लार्ड ग्रैबर्थ ने जो संरक्षकत्व की दुहाई दी है वह निरा ढकोसला है। हम लायक हैं कि नालायक इसका विचार करने-वाले अगर वही रहेंगे तब तो कभी भी हमारा दासत्व दूर न होगा। इस सभा का एक-मात्र कर्त्तव्य है साम्राज्य-मात्र को मिटाकर सब जातियों की स्वाधीनता की प्रतिष्ठा। देशों की अधीनता ही द्वेष और हिंसा की जड़ है।

महातपस्वी निश्चिंत महाराज आँखें बंद किये बैठे थे। अब मौन भंग करके अबल-दास की पीठ पर सस्नेह हाथ फेरते हुए बोले, कोई चिंता नहीं वत्स, मैं तो हूँ। मेरी तपस्या के प्रभाव से तुम सब को यथासमय श्रेयलाभ होगा। गौरीशंकर-शिखरवासी महर्षियों के साथ मेरा हर समय विचार-परिवर्त्तन होता रहता है ; वे सब मुझसे एक-मत हैं।

कर्मयोगी धर्मदासजी ने कहा, इस सब फ़िजूल की बात से कुछ सिद्ध नहीं होगा। पहले सबको चरित्र सुधारना होगा, तब राष्ट्रीय सद्बुद्धि जागेगी। मेरी व्यवस्था बहुत सीधी है, सब लोग निरामिष होकर रहें, सब प्रकार की विलासिता का त्याग करें, एक मास (गामानवों का मास, पूर्वमानव के हिसाब से पचास वर्ष) निरविच्छिन्न ब्रह्मचर्य पालन करें ; इस बीच बूढ़े अपने-आप मर जायँगे और नयी प्रजा उत्पन्न न होगी, फलतः जगत की जनसंख्या आधी हो जायगी, युद्ध, दुर्भिक्ष, महामारी किसी चीज की ज़रूरत नहीं पड़ेगी, विशुद्ध धर्मसंगत उपायों से सबकी समस्या दूर हो जायगी।

पंडित सत्यकामजी बोले, मैंने बहुत सोचकर देखा है, दलीलबाजी से या अलौ-किक उपायों से कुछ नहीं होगा। निरामिष भोजन, विलासिता-त्याग और ब्रह्मचर्य सब वृथा है। ये सब उत्कट व्यवस्थाएँ हमारी प्रकृति के विरुद्ध हैं। न इन्हें अंतर्राष्ट्रीय कानूनों से जबर्दस्ती चलाया जा सकता है। आवश्यक है सत्य भाषण। इस सभा के सदस्यगण यदि मन के कपाट खोलकर निष्कपट चित्त से अपना अभिप्राय कहें तो विश्व-शांति का उपाय सहज ही निर्धारित किया जा सकता है। हमने विज्ञान में इतनी उन्नति की पर गामानव चरित्र में कोई परिवर्त्तन नहीं कर सके। यह क्यों हुआ ? क्योंकि विज्ञानी

लोग जिसका पर्यवेक्षण या परीक्षण करते हैं, उसमें छल नहीं है, जड़ प्रकृति धोखा नहीं देती इसीलिए उसके तथ्यों का निर्णय आसानी से हो सकता है। इसके विपरीत राष्ट्रों के प्रभु मिथ्या छोड़ एक पग भी नहीं चल सकते। इनका गूढ़ अभिप्राय क्या है, वह साफ़-साफ़ कहे बिना शांति का उपाय निकल ही नहीं सकता। रोग के सब लक्षण जाने बिना चिकित्सा की व्यवस्था कैसे हो सकती है?

लार्ड ग्रैबर्थ ने मुँह बिचकाकर कहा, कोई यदि मन की बात न कहना चाहे तो उसे खींचकर बाहर कैसे निकाला जा सकता है? सच बुलवायेंगे कैसे आप?

जनरल कीॉफ़ ने उत्तर दिया, दवा खिला कर। सोडियम पेंटोथाल का नाम सुना है आपने? उसके प्रभाव से कोई भी विवश होकर सच बात कह डालता है। हमारे देश में राष्ट्रद्रोहियों को यही चीज़ खिलाकर उनसे दोष क़बूल कराया जाता है, उसके बाद खट् से गोली मार दी जाती है। हम लोग मुक़दमों में समय नष्ट नहीं करते, वकीलों को भी व्यर्थ पैसा नहीं देते।

विश्वविख्यात विचक्षण वृद्ध डाक्टर भृंगराज नंदी बोले, मूर्ख, मूर्ख, सब मूर्ख हैं। पेंटोथाल से बुद्धि जड़ होती है। व्यक्ति सच कहता है अवश्य, किंतु उसकी विचार-क्षमता लुप्त हो जाती है। हम लोग यहाँ नशेबाज़ों का अड्डा बनाने नहीं आये, जटिल विश्व-राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने आये हैं। पेंटोथाल का काम नहीं है, मेरे नये आविष्कार वेरासिटीन का इंजेक्शन देना होगा। गाँजे से उत्पन्न यह औषध अत्यंत निरीह, पर अचूक है। कोई कितना ही घुन्ना कूटनीतिक क्यों न हो, यह उसका गला पकड़कर सच बुलवा लेगी, फिर भी बुद्धि को ज़रा भी क्षति न पहुँचायेगी। स्थायी अनिष्ट का भी कोई डर नहीं, एक घंटे बाद इसका प्रभाव मिट जायगा और फिर जितनी इच्छा उतना झूठ बोला जा सकेगा। औषध यहाँ मेरे पास है, सभापति महोदय आदेश दें तो सबको एक क्षण में सत्यवादी बना दे सकता हूँ।

काउंट नॉटिनफ़ ने पूछा, परीक्षा हो चुकी है?

भृंगराज ने उत्तर दिया, और नहीं तो क्या। अनेक चूहों और विलायती चूहों पर परीक्षा कर चुका हूँ।

जनरल कीॉफ़ ने ठठाकर हँसते हुए पूछा, चूहों में भी सच-झूठ होता है क्या? आप उनकी भाषा जानते हैं?

नंदी बोले, अवश्य जानता हूँ। उनकी भंगी देखकर समझा जा सकता है। दुम बायें को मुड़े तो समझ लीजिए कि नीयत अच्छी नहीं है, बात छिपा रहा है। दाहिने को मुड़े तो जानना चाहिए कि मन साफ़ और निश्छल है। इसके अतिरिक्त अपने एक शिष्य पर भी परीक्षा की है, जिसके फलस्वरूप उसकी पत्नी ने तलाक का दावा कर रखा है।

सभापति चङ् लिङ् ने कहा, संदेह रखने की जरूरत क्या है, यहीं परीक्षा हो जाय न। कौन वालंटियर होंगे—कौन विज्ञानप्रेमी हैं, सामने आवें।

धर्मदास जी ने डाक्टर नंदी के पास आकर हाथ बढ़ाकर कहा, मैं राजी हूँ, दीजिये इंजेक्शन।

नंदी ने तत्काल जेब से एक बड़ी 'मैगजीन सिरिंज' निकाली और धर्मदास की बाँह में सुई लगाकर पंद्रह बूँद मात्रा में औषध प्रविष्ट कर दी। औषध के असर के लिए दो मिनट का समय देकर सभापति ने पूछा, अच्छा तो धर्मदासजी, अब अपने मन की बात खोलकर कहिये।

धर्मदास ने कहा, निरामिष भोजन, अविलासिता और ब्रह्मचर्य। हाँ, बीच-बीच में मैं आत्मप्रवंचना करता हूँ अवश्य।

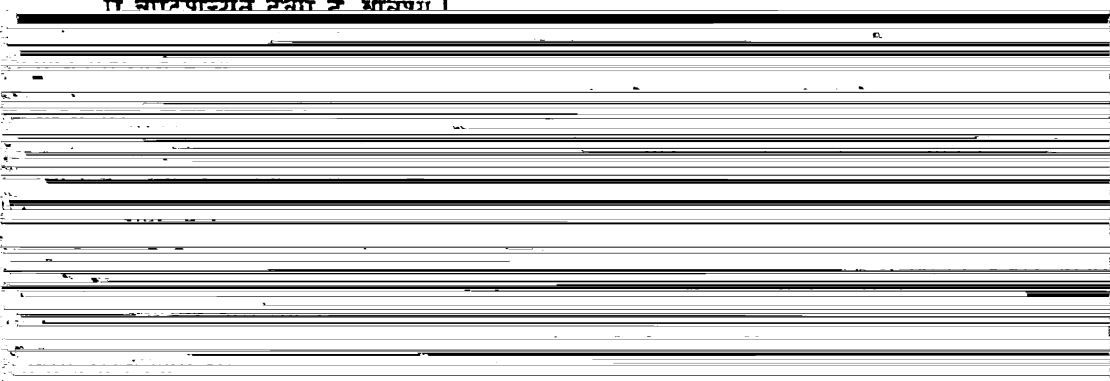

[illegible]

अधिकार है ; किसी नीम हकीम के पल्ले पड़कर उसे गँवा नहीं दे सकते। मोटा झूठ अत्यंत बर्बर चीज है यह मानते हैं, किंतु सूक्ष्म मिथ्या एक अमूल्य अस्त्र है, ताककर छोड़ने पर उससे जगत् जीता जा सकता है ; उसे हम किसी तरह नहीं छोड़ सकते। मँजा हुआ झूठ ही सभ्य समाज का आश्रय और आच्छादन है, समस्त लोकाचार और राजनीति उसके ऊपर प्रतिष्ठित है। आपको लज्जा नहीं लगती? इस भरी सभा में उलंग हो जाना जैसा है, वैसा ही मन की बात प्रकाशित करना भी है।

जनरल कीयॉफ नहीं रुके। ग्रैबर्थ की पकड़ से अपना हाथ जोर से छुड़ाकर उन्होंने बढ़ा दिया, डाक्टर नंदी ने भी तत्काल सुई लगा दी। तब कीयॉफ़ ने दोनों भुजाओं से ग्रैबर्थ को जकड़ते हुए कहा, जल्दी, इन्हें भी सुई लगाइए—जरा ज्यादा दवा दीजियेगा! डाक्टर भृंगराज नंदी ने वेरासिटीन की डबल मात्रा दे दी। कीयॉफ़ की स्थूल लोमश बाहों के बंधन में छटपटाते हुए ग्रैबर्थ ने कहा, यह कैसी जबरदस्ती है! आप लोग समस्त अंतर्राष्ट्रीय कानून तोड़ रहे हैं! सभापति महोदय आप बिलकुल अकर्मण्य हैं! उठिये, फ़ौरन हमारे देश के प्रधान मंत्री को टेलिफ़ोन कीजिये। कीयॉफ़ ने कहा, बहुत बिगड़ा हुआ मरीज है यह, हड्डी हड्डी में रोग घुस गया है, लगाइये और डबल सुई! डाक्टर नंदी ने बिना शब्द-व्यय के दुबारा सुई लगा दी। तब क्रमशः शांत होते

हुए लार्ड ग्रैबर्थ ने मृदु स्वर से कहा, केवल हम दोनों को ही क्यों ? उस बदजात गुंडे नॉटिनफ़ को भी लगाइये।

नॉटिनफ़ घूँसा तानकर ग्रैबर्थ को मारने झपटे। कीगॉफ़ ने उन्हें घेरते हुए कहा, ठहरिये, ठहरिये, सच बोलने में इतना डर किसका ? हम सभी एक-दूसरे की चालें समझते हैं, साफ़-साफ़ कह देने में ही ऐसी क्या बुराई है ?

नॉटिनफ़ ने फुसफुसाते हुए कहा, अरे मैं क्या तुम लोगों की परवाह करता हूँ? मेरी आपत्ति का कारण दूसरा है। अंतर्राष्ट्रीय अशांति से पारिवारिक अशांति कहीं भयानक है!

इसी समय दर्शकों की गैलरी से काउंटेस नॉटिनफ़ का तीखा स्वर आया, लगा दीजिये सुई ज़बरदस्ती ! काउंट सरासर झूठा है, सदा से मुझे ठगता आया है।

इसी गड़बड़ से मौका पाकर डाक्टर नंदी ने घुटनों के बल भीतर घुसकर नॉटिनफ़ के कूल्हे में वेरासिटीन की सुई लगा ही तो दी। नॉटिनफ़ की पत्नी ने चिल्लाकर कहा, अब क़बूल करो तुम्हारी प्रेमिकाएँ कौन-कौन हैं।

सभापति चड् लिड् ने कहा, आप घबराती क्यों हैं, प्रेमिकाएँ भाग थोड़े ही जायेंगी— अभी हमें काम करने दीजिये। लार्ड ग्रैबर्थ, काउंट नॉटिनफ़, जनरल कीगॉफ़, आप लोग एक-एक करके साफ़-साफ़ कहिये कि आपके राजनीतिक उद्देश्य क्या हैं।

ग्रैबर्थ ने कहा, हमारा उद्देश्य बिल्कुल सीधा है। जिनके पास ताकत होती है उनकी यही एकमात्र राजनीति होती है। पर-हितैषिता अपनों के बीच में अच्छी चीज है; किंतु अंतर्राष्ट्रीय कारबार में उसका कोई स्थान नहीं। हम सभ्य-असभ्य सबल-दुर्बल सब देशों से भरसक उगाही करना चाहते हैं ; इसमें न्याय-अन्याय का सवाल नहीं उठता। दूध पीते समय बछड़े की व्यथा कौन सोचता है ? जब मांस के लिए, अथवा अन्य कारण से, गाय-भेड़-बाघ-साँप-चूहा-मच्छर मारते हैं, तब क्या उनके स्वार्थ की परवाह करते हैं ? उद्भिज के भी प्राण होते हैं; यह सोचकर अहिंस होकर पत्थर खाकर जी सकते हैं क्या ? हम सब प्रकार का सुख भोगना चाहते हैं, उसके लिए सब प्रकार के दुष्कर्म करने को प्रस्तुत हैं। किंतु हम सर्वथा निरंकुश नहीं हो सकते। शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वी हैं, स्वभावगत कोमलता भी है ही—जिसे मूर्ख कहते हैं धर्मज्ञान, फिर स्वजातीयों, और मित्र विजातीयों में कुछ-एक दुर्बलचित्त धर्मिष्ठ भी हैं जिन्हें सब समय ठगा नहीं जा सकता, शांत रखने के लिए बीच-बीच में त्याग स्वीकार करना पड़ता है। इस सभा का जो उद्देश्य है वह कभी भी सिद्ध नहीं होगा। प्रतिपक्षी के भय से बाधित होकर बीच-बीच में थोड़ा-बहुत स्वार्थत्याग किया जा सकता है, किंतु वैसी किसी पक्की व्यवस्था के लिए हम राज़ी नहीं। आज जो छोड़ेंगे कल सुविधा पाते ही फिर हथिया लेंगे। अभिव्यंजनावाद से तो आप परिचित हैं, अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।

नॉटिनफ़ ने कहा, हमारी नीति भी ठीक ऐसी है। कर्म-पद्धति का थोड़ा-बहुत भेद

है, किंतु उद्देश्य एक ही है। हम जातीय दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ हैं, जगत का आधिपत्य एक दिन हमारे हाथ आवेगा ही, छल-बल-कौशल से जैसे भी हो हम अपनी मनोकामना सिद्ध करके रहेंगे।

कीपॉफ़ बोले, हमारा भी यही मत है। आपकी और हमारी पद्धति में बहुत अंतर है। दैववश हमारा देश विशाल है, अन्य देशों का शोषण करने की विशेष आवश्यकता हमें अभी तक नहीं हुई, किंतु भविष्य सोचकर हम लोग अभी से सतर्क हैं।

अबलदास जी माथा पकड़कर बोले, हाय हाय! इससे तो झूठ ही अच्छा था! उसमें फिर भी तनिक-सी आशा थी कि ये लोग अभी सामर्थ्य के दंभ में भूले हुए हैं, पीछे कदाचित् इनकी न्याय बुद्धि को जगाया जा सके! अच्छा, लार्ड ग्रैबर्थ, एक प्रश्न का उत्तर दीजिये। हम अधीन जातियाँ धीरे-धीरे शक्तिमान हो रही हैं। आप चाहे जो कहें, जगत के सभी देशों में अब भी साधु पुरुष हैं जो हमारे सहायक हैं। एक दिन हम बंधन-मुक्त होकर ही रहेंगे। हमारे मनों में जो विद्वेष जमा हो रहा है, उसके फल से भविष्य में आप लोगों का कैसा सर्वनाश होगा इसे आप समझते हैं? हमारे साथ अभी अगर न्यायोचित निबटारा कर लें और उसके लिए कुछ त्याग भी करें तो भविष्य में हम भी आपको बिल्कुल वंचित कर देना न चाहेंगे। यह सहज सत्य आपकी समझ में क्यों नहीं आता?

ग्रैबर्थ ने कहा, अवश्य आता है। किंतु सुदूर भविष्य में इकन्नी पाने के लालच में हाथ आया रुपया कौन छोड़ता है? अपने पड़-पड़पोतों की फिक्र करके सिर दर्द मोल लेनेवाले हम नहीं हैं।

अबलदास दीर्घ विश्वास छोड़कर बैठ गये। निश्चिंत महाराज ने एक बार फिर उनकी पीठ पर हाथ फेरकर कहा, भय क्या है, मैं तो हूँ।

धर्मदास बोले, इंजेक्शन देकर लाभ क्या हुआ? सब तो हमारी जानी हुई बात है। हमारे शास्त्र में असुर प्रकृति का लक्षण दिया हुआ है:

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्से मनोरथम्
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशा मया।

'यह आज मिला, वह मनोरथ प्राप्त होगा, यह मेरा है, वह भी मेरा होगा। यह शत्रु मैंने मारा, दूसरे शत्रुओं को भी मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, सिद्धियाँ मेरी हैं, मैं बलवान और सुखी हूँ। मैं संपन्न और अभिजन-सेवित हूँ, मेरे जैसा और कौन है?'

सभापति ने चारों ओर दृष्टि दौड़ाकर कहा, बड़े-बड़े राष्ट्रों का उद्देश्य तो जाना गया, अब शांति के उपाय की चर्चा होनी चाहिए।

ग्रैबर्थ, नॉटिनफ, कीपॉफ एक सुर से बोले, हम मजे में हैं, शांति-वांति फ़िजूल की बात है, हम लोग नखदंतहीन भलेमानुस होना नहीं चाहते, परस्पर मारकाट करते हुए आनंदपूर्वक जीवन यापन करना चाहते हैं।

इस सभा के एक सदस्य अब तक पीछे की पंक्ति में चुपचाप बैठे हुए थे। ये थे आचार्य व्योमवज्र दर्शनविज्ञानशास्त्री, जिनकी समस्त उपाधियाँ एक दस्ता फूलस्केप कागज में भी नहीं अँटती। अब यह उठकर बोले—विश्वशांति का उपाय मैंने खोज निकाला है।

डाक्टर भृंगराज नंदी ने पूछा—आपका भी कोई इनजेक्शन है क्या?

व्योमवज्र ने उत्तर दिया, पृथ्वी के कोटि-कोटि जन को इनजेक्शन देना तो असंभव है। सर्वोत्तम उपाय है मेरा अविष्कृत विश्वव्यापक शांतिव्यापक बम, जिसके प्रभाव से सर्वत्र शांति विराजेगी। इस बम से जो आकस्मिक रश्मियाँ निकलती हैं वे कस्मिक रश्मियों से हजारगुनी सूक्ष्म हैं। उनके स्पर्श से चित्तशुद्धि, काम-क्रोध-लोभादि का उच्छेद और आत्मा की बंधन-मुक्ति होती है।

ग्रैबर्थ ने धमकाते हुए कहा, खबरदार, यहाँ किसी रहस्य का प्रकाशन नहीं कर सकते आप! हमारे धन से आपने गवेषणा की है। आपको जो कहना हो हमारे प्रधान मंत्री से एकांत में कहें।

नॉटिनफ उछलकर बोले, वाह! हमीं ने तो उसका सब खर्च उठाया है! बम हमारा है।

कीपॉफ़ ने कहा, आप सब डैम झूठे हैं। हमारा राष्ट्र बहुत दिनों से उसकी सहायता करता आ रहा है, उनका आविष्कार एकांत हमारी संपत्ति है।

व्योमवज्र ने दोनों हाथों से अभय देते हुए कहा, आप लोग घबरायें नहीं, मेरे बम पर आप सबका अधिकार है, आप सभी उससे उपकृत होंगे। अबलदासजी, आपकी भी सब दलबंदी और सकल दुर्दशा मिट जायगी। यह कहते हुए उन्होंने एक छोटी पोटली खोलना आरंभ किया।

सभा में गड़बड़ी फ़ैल गयी। ग्रैबर्थ, नॉटिनफ़, कीपॉफ़ और अन्यान्य समस्त राष्ट्र-प्रतिनिधि पोटली छीनने के लिए धक्का-मुक्की करने लगे।

धर्मदास ने कहा, व्योमवज्रजी, अब देर क्यों करते हैं, फेंकिये न अपना बम।

व्योमवज्र को कुछ करना न पड़ा। सदस्यों की खींचा-तानी में बम उनके हाथ से गिरकर पटाखे-सा फट गया। कोई आवाज कानों में नहीं पड़ी, कोई चौंध आँखों को नहीं लगी; शब्द और आलोक की तरंग इंद्रियद्वारों तक पहुँचने से पहले ही समग्र गामानव जाति की इंद्रियानुभूति ही लुप्त हो गयी।

कुछ क्षण हतबुद्धि रहने के बाद ग्रैबर्थ बोले, शास्त्री का बम अच्छा रहा, ऐसा बोध होता है मानों हम सब साम्य मैत्री और स्वाधीनता पा गये। नॉटिनफ, कीपॉफ, तुम तो अपने दोस्त हो यार! भैया अबलदास, तुम तो हमारे परम आत्मीय हो। मैंने एक नया अंतर्राष्ट्रीय गान रचा है, सुनो: भाई भाई एक रहो, भेद न हो भेद न हो। आओ, अब जरा गले मिला जाय।

निश्चिंत महाराज ने अबलदास की पीठ थपककर सगर्व कहा, मैंने कहा न था?

सभा में विजयादशमी और ईद मुबारक का-सा भ्रातृभाव उमड़ आया। कुछ देर बाद नॉटिनफ़ ने कहा, आओ भाई, अब जरा विश्व के कोयले-तेल-गेहूँ-गोधन-भेड़-सूअर-रुई-चीनी-रबर-लोहे-सोने-प्रभृति का जरा हिस्सा बाँट हो जाय। जन-संख्या के हिसाब से बँटवारा—कहिये क्या राय है?

व्योमवज्र ने हँसकर कहा, कोई आवश्यकता न होगी इसकी। आप सब अब नश्वर देह से मुक्ति पाकर निरालंब वायुभूत हो गये हैं। अब नरक भी जा सकते हैं, पुनः जन्म भी ले सकते हैं, और लवलीन भी हो जा सकते हैं—जैसी जिसकी रुचि हो।

कीपॉफ़ ने कहा, आप क्या कहना चाहते हैं कि हम लोग मरकर प्रेत हो गये हैं? हम भूत-प्रेत नहीं मानते।

व्योमवज्र ने उत्तर दिया, आप भले ही न मानिये। उसमें अन्य भूतों की कोई क्षति नहीं है।

मृतवत्सा वसुंधरा तनिक सुस्ता लेंगी, उसके बाद फिर सत्ववती होंगी। दुरात्मा और अकर्मण्य संतान के लोप का वह दुःख नहीं करेंगी। काल निरवधि है, पृथ्वी भी विपुला है। वह अलसगमना हैं, दस-बीस लाख बरसों में उनका धैर्य नहीं चुक जायगा। सुप्रजावती होने की आशा में वह बार-बार गर्भ धारण करेंगी।*

---

* लेखक की अनुमति से मूल बँगला से अनुवादित।

सत्यवती मलिक

काश्मीरी काव्य और कला

जगमगाते हीरे के समान उलट-पुलटकर जिसके अतुल वैभव, अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य, एवं उसमें छायी महानता के आगे बार-बार सिर झुकाया है, उसी की मलिनता, दरिद्रता, आत्मगौरव हीनता, भाषा-कला-दारिद्र्य आदि का उपहास सुन जब-तब गड़-सी गयी हूँ। और वास्तव में उस स्वर्ग-भूमि में प्रत्यक्ष नारकीय जीवन यापन करनेवालों से इनकार भी कैसे किया जा सकता है?

उन यात्रियों की ही बात नहीं जो महज ठंडी हवा खाने, अथवा घोड़े पालकियों पर सवार उन देव-स्थानों में पुण्य लूटने के निमित्त आते हैं और गहन वन प्रांतों की अनिर्वचनीय शोभा और सुषमा को जहाँ-तहाँ जूठन फैलाकर बिगाड़ने का ही अधिकार रखते हैं। बल्कि अपने को कलाकार, एकांत सेवी, परिष्कृत रुचि का समझनेवाले उन व्यक्तियों की भी, जो कभी आस-पास, नीचे इधर-उधर देखना भी पसंद नहीं करते।

इन्हीं में से एक सज्जन ने कुछ वर्ष पूर्व कहा था—'आप कश्मीरी लोगों की कला और साहित्य की बात करती हैं, उन्हें तो सूर्योदय और सूर्यास्त तक का पता नहीं? वहाँ की झीलों, वनों, फूलों, पर्वतों के सौंदर्य को वे क्या जानें।'

एक अन्य महानुभाव जो प्रायः प्रतिवर्ष काश्मीर के उत्तंग शिखरों पर, कलासाधना के हेतु जाते हैं, बोले, 'छी! छी! कश्मीरी लोग भी क्या इंसान होते हैं?'

किंतु इन आक्षेपों पर जितनी ही क्षुब्ध हुई हूँ, उतने ही वेग से वे जहाँ-तहाँ, वनों में गूँजती ध्वनियाँ, वे भग्नावशेष, वे लाखों की संख्या में शहतूत के पेड़, और धान के खेत अथवा गंदे कच्चे घरों में, अपने देश के वृक्षों-पत्तों-फूलों आदि के डिज़ाइनों को चित्रित कर, बारीक सुइयाँ चलाते हुए उस्तादों, संगतराशों बढ़इयों आदि की अनेक आकृतियाँ मेरे मन में उभर आयी हैं।

आश्चर्य तो यह है कि जब-जब इस दबे हीरे को प्रकाश में लाकर देखने का प्रयत्न किया है, एक नयी चमक दिखायी दी है।

यह संभव भी कैसे था कि जो देश कुछ शताब्दि पूर्व अक्षयकोष का भंडार रहा हो, जिस चमत्कारिक भूमि ने कालिदास, कल्हण, बिल्हण, सोमदेव, मंडनमिश्र प्रभृति अनेक महाकवियों और विद्वानों को जन्म देने का गौरव प्राप्त किया है, वह नितांत ही बाँझ हो जाय?

प्रमाण स्वरूप, भोजपत्र, तालपत्र, वहीं के बने शुद्ध सुंदर चिकने कागज़ों पर मोतियों से हस्ताक्षरों में, शारदा देवनागरी, संस्कृति आदि में हस्तलिखित ग्रंथों के पुस्तकालय आज भी प्रसिद्ध पंडित गृहों में विद्यमान हैं।

इस बृहत् साहित्य का संग्रह, काश्मीर स्टेट के पुरातत्व विभाग ने वहीं के विद्वानों द्वारा 'काश्मीर ग्रंथावली' के रूप में करवाया है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक काश्मीरी भाषा के विषय में, जो प्राचीन संस्कृत का ही रूपान्तर है और जो पन्द्रहवीं शताब्दि में फारसी, कश्मीरी व संस्कृत कश्मीरी दो धाराओं में प्रवाहित होती रही।

लोगों की यह धारणा कि वह कोई लिखित या संस्कृत भाषा नहीं डा० ग्रियर्सन, डा० स्टाईन और डा० नीव आदि विद्वानों की खोज, परिश्रम और अमूल्य सेवाओं के बाद निर्मूल सिद्ध हुई।

'कश्मीरी भाषा और साहित्य' शीर्षक सुंदर लेख में श्रीशिवदानसिंह चौहान ने कश्मीरी साहित्यकारों पर पूर्ण प्रकाश डाला है, सो इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, इस लेख में उन्हीं में से प्रमुख कवियों की कुछ पंक्तियों का आस्वादन करवाना अभिप्रेत है।

सबसे प्रथम श्रीललितेश्वरीदेवी, उपनाम ललेश्वरी के विचारों की सुन्दरता देखिये, जो वेदांत की पंडिता थीं।

अछान आय न गछुन गछे।
पकुन गछे दिन क्याह राय॥
योरय आय तूर्य गछुन गछे।
केंह न त केंह न त क्याह॥

अर्थात्—अनादि से हम आये और अनंत में हमें जाना है, दिन-रात हमें चलते रहना चाहिए। जहाँ से आये वहीं जाना है—कुछ नहीं कुछ नहीं, यह संसार कुछ नहीं।

ढ़ाद शांत मडल यस देवस थजय।
नासिक पवन अनहद रव॥
स यस कल्पन अंतिह चलिय।
स्वयम् देव त अर्चन कस॥

अर्थात्—ब्रह्मरंध्र को जिसने शिव-स्थान जाना, प्राणवायु के प्रवाह के साथ-साथ जिसने अनहद को सुना और जिसकी वासनायें अंदर ही अंदर मिट गयीं, वह तो स्वयं ही देव हैं, शिवरूप हैं, फिर पूजा काहे की।

इसके बाद स्त्रियों में विशेष स्थान हब्ब खातून का है। वे महासम्राट् अकबर के समय कश्मीर के गर्वनर की पत्नी थीं, बादशाह ने किसी कारण से इनके पति को कत्ल करवा दिया तब हब्ब खातून घर त्यागकर वैरागिन हुईं और सारी आयु प्रेम-गीत गाते हुए बिता दीं। इनके गीतों में फारसी शब्दों की अधिकता है।

लति युवनम दS'ः फि़ाक कति लुगसय रसय।

मस छी ‹डव यडर करनस, मच व फलवान ॥

लति (अपने को सम्बोधित कर) मेरे निष्ठुर! ने मुझे विरह वेदना दी है, न जाने उसका मन कहाँ रमा है! उस प्रियतम ने मेरी मस्ती को छिन्न-भिन्न कर दिया, मैं बावली होकर फिर रही हूँ।

मुंशी भवानीदास की स्त्री भी अपने समय की अच्छी कवियित्री थीं। चर्खा कश्मीरी स्त्रियों की विशेष प्रिय वस्तु है, पश्मीना व ऊन कातते हुए वे प्रायः गाती हैं। चर्खे पर ही एक उनकी सुंदर कविता है, किंतु एक रूप-कविता में निम्न पंक्तियाँ कितनी भावपूर्ण हैं।

आम ताव कोताह गजस, श्याम सुंदर पामन लजस।

न म पैगाम कंसुनिय, कर इये दर्शन दिय ॥

अर्थात्—मैं उसके विरह की अग्नि कहाँ तक सहूँ? हे श्याम सुन्दर! मेरी सखियाँ मुझे ताने देती हैं। मेरा संदेश तुम तक कौन ले जायगा।

इसी प्रकार अनेक फुटकर सुंदर कवितायें स्त्रियों द्वारा रचित मिलती हैं।

पुरुष कवियों में सबसे उच्चकोटि के अध्यात्मवादी कवि पण्डित श्री परमानंद हुए हैं। वे प्राचीन मंदिर मार्तण्ड के समीप ही रहनेवाले और पटवारी थे। इनके पिता फारसी कश्मीर के विद्वान् और पटवारी थे। पण्डित परमानंद सतरह वर्ष तक की अवस्था तक जीविका के लिये सरकारी पद पर नियुक्त रहते हुए भी भक्ति रस में लीन रहे, उनके रचित स्वयंवर कृष्ण लीला सुगमा चरित, शिवलग्न आदि ग्रंथों के अत्यंत मधुर छंदों की तुलना सूरदास से ही की जा सकती है। वे निरंतर ज्ञान के सागर में गोता लगाना चाहते थे। एक बार अपनी वर्तमान दशा से असंतुष्ट होकर उनके मुख से निकल पड़ाः—

त्राहि माम्! त्राहि माम्! हे मुरारि।

कट संकट, हे मुकुट धारि ॥

अमरनाथ की यात्रा को प्रतिवर्ष जाते हुए अनेक साधुओं और काशी के पंडितों की सत्संगति ने उन्हें एक ऊँचे धरातल पर पहुँचा दिया, वेदांत की शिक्षा प्राप्त हुई, इस प्रकार ध्यान योग, साधना करते हुए एकाएक उन्हें प्रतीत हुआ कि साक्षात् सरस्वती मानों उनकी वाणी से प्रवाहित होना चाहती हैं।

कन थव सरस्वती छय वनन ।
वन्य्-वन्य् पान् छुयना सनन ॥

"सुनो ! सरस्वती स्वयं बोल रही हैं ! बार-बार कहा, पर तुम्हें सुनाई नहीं पड़ता ।"
सुदामा चरित के प्रारंभ में कितनी सुंदर उनकी कविता है :—

पंपोश - वागस - मेज वथुरावय ।
भावय पनुनी गोस तु गम ॥

अर्थात्—पद्मवन में तुम्हारे लिये आसन बिछाऊँगी और अपने कष्टों व दुःख-सुख की गाथा कहूँगी ।

राधा स्वयंवर के छंदों में प्रत्येक अंतिम चरण में—

चित्त विमर्श दीप्ति मान भगवानों

के साथ व्यक्ति झूम पड़ता है । लोग बतलाते हैं कि जब वे पद गाते थे, तो उनके हृदय का कण-कण नाच उठता था और प्रायः गाते-गाते वे समाधिस्थ हो जाते थे ।

आधुनिक कवियों में से कवि महजूर देश के प्राण हैं । वे गंधर्व बल (गांधर बल) के पास पं० परमानंद की भांति ही पटवारी हैं । किंतु उनकी कविता जन-साधारण में अधिक व्याप्त हो गयी है, वे काश्मीर की अनुपम प्राकृतिक छटा और विचरने वाले दीन हीन जनों के मनोभावों एवं सौंदर्य के पुजारी हैं । उनकी कविता 'ग्रीसकूर'(किसान कन्या) का अनुवाद सुनकर श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि महजूर 'काश्मीर के वर्डस्वथ हैं ।'

पोष वन बागच्य पोष गदरिए,
ग्रीस कूरय नाजनीन सौंदरय ।
सोगाचि हिय मेल्य बागच्च परिए,
ग्रीस कूरय नाजनीन सौंदरय ।
आज़ाद वनच्यो पोष थरिए,
मूश्क सेत्य टुस्थ कमी जरिए ॥
सत्य रंग वखशी कमी रंगरिए,
ग्रीस कूरय नाज़नीन सौंदरय ।

दजि प्यठ बूछियस्त थोद लदिथ
लो लो करान लोलरिए।
नरि मा लोयस चूरकरि नरिए करिए
ग्रीस कूरय नाज़नीन सोंदरय॥

अर्थात्:—

'हे फूलों से भरे वन के समान, बाग़ से लेकर गूँथे गुलदस्ते के समान, सुकुमार सुन्दर कृषक कन्या।

हे स्वर्ग की हिममाला और बागों की परी-सी कृषक कन्या तू कितनी सुंदर है।

हे स्वतंत्र वन की पुष्प बेल, तुम्हारी कलियाँ सुगंध से किसने भर दी है? इंद्रधनुष के सात रंग तुम्हें किस रंगरेज ने बख्श दिए हैं?

खेत में तुम्हें अपनी अस्तीनें ऊपर किये हुए मधुर गान गाते हुए देखा। काम करते-करते तुम्हारी बाहें थक तो नहीं गईं। तुम सुकुमार जो हो।'

इसी प्रकार बिजली, निशात बाग के फूलों और गृह कन्या पर महजूर की अत्यंत सुंदर कवितायें, उस उपत्यका में सुरभि बन गूँज रही हैं। उनके संग्रह उर्दू व देवनागरी दोनों लिपियों में प्रकाशित हैं।

महजूर के प्रमुख तथा प्रिय साथी व शिष्य कविवर 'आजाद' राष्ट्रीय भावों के लिये प्रसिद्ध हैं, अपने देश के कण-कण ने उन्हें कैसा प्रभावित किया है, यह वितस्ता पर उनकी निम्न कविता के कुछ अंशों में देखिये:—

वेर नाग च मारि यछिज़ परिये, सुंदरिये बोज़ि म्यान ज़ार!
यंदराज़न महा सुंदरिये च्योन माल्युन तल पाताल
ह्यंद यंदु चोव नामवरिये, सुंदरिये बोज़ि म्यान ज़ार!
छय खे स्वर्णा पूय, शाह परिये डूर्य जन्मेक सगुनवान
चानि दर्शन सर न गेय सरिये, सुंदरिये बोज़ि म्यान ज़ार!
ज्ञान छुत नय पनन्य आगरिये, थहि लोयुथ् सदस पान
साम्य वादुक नाद कर करिये, सुंदरिये बोज़ि म्यान ज़ार!

'वेर नाग की सुंदर अप्सरी! हे सुंदरी, मेरी विनती तो सुनो।

राजा इंद्र की महासुंदरी! तुम्हारा निवास-स्थान तो पाताल में है, पर भारत भर में तुम्हारी नामावरी है, तनिक रुककर मेरी बात तो सुनो:

हे देवलोक की परी! तुम तो इस स्वर्ग लोक के बीचों बीच, मानों क्यारिश्रों को सींच रही हो तुम्हारे दर्शन मात्र से प्रभुता प्राप्त व्यक्ति भी नम्रता ग्रहण करते हैं।

तुम्हारे जन्मदाता ने ही तुम्हें स्वाभाविक ज्ञान दिया है कि तुम अपनी छोटी-छोटी साथिनों (उपनदियों) को साथ लेकर साम्यवाद का नाद गुँजा रही हो।'

ऊपर वर्णित लिखित-साहित्य के अतिरिक्त कितनी धुनें. कितने गीत ऋतु-ऋतु के वहाँ बिखरे पड़े हैं जो योंही राह चलते प्रकृति में लीन, ध्यान-मग्न, यात्री को सहसा चकित और चमत्कृत कर देते हैं! उदाहरणार्थ, शालि धान काटने के दिनों में हरे पीले खेतों में गट्ठे काटते रखते हुए एक व्यक्ति पहले गाता है और शेष पीछे उसी चरण को दोहराते हैं— वह गूँज मानों एकांत शांत पर्वत श्रेणियों में प्रतिध्वनित हो सारी उपत्यका में फैल जाती है :

गोनि करन्ये वोन्यवी हूरण लाल दीदार दियि ना।
दिनम्य नेयूनम मीथ चूरग चरु करुन्य वियिमा ॥

'अप्सराओं से कह दो कि वे धान के ढेर बाँधें। संभव है मेरा प्रियतम दर्शनों को आये। उस प्रेम के मतवाले ने मेरा दिल छीन लिया, शायद मेरी सहायता को, मेरी रक्षा करने को आ जाये······'

दाँ डूस्यग मँज़ बाग़न, लग्य दों कुल्य बटने,
रोह करन्ये बीसवी आरस गुलिलाल यूर पियि मा।
पोंच हयोल ब्ययि बंबूरप यियि मा ग्योति रटने,
गौनि करन्ये बोंन वी हूरण लाल दीदार दियि मा ॥

'खलिहानों के बीच धान के नन्हें-नन्हें पौधे काँप रहे हैं। आओ हम इसके चारों ओर घूम-घूम कर नाचें, शायद वह गुले लाला आ जाये। संभव है धान की पकी बाली भौंरे के लिपटने को आये, इसलिये आओ! कह दो अप्सराओं को कि वे धान के ढेर बाँधें; शायद मेरा भूला प्रियतम दर्शनों को आये!···यह प्यार भरा दिल अब उसके प्रेम के लिये फट जायगा। हाय! यदि वह आये तो हम अनाज का एक-एक दाना अपने हाथों से खिलायेंगे। यदि वह भूला प्रियतम फिर आ जाये······'

इन फसली गीतों के बाद वे करुण गीत-कवितायें जो मल्लाह कभी चाँदनी रातों में, 'शिकारों' (छोटी नावों) के साथ थपथपाती लहरों से सुर मिलाकर गा उठते हैं।

चोल्हमा रोशे रोशे, पोशे मा मन जाननो,
बुछ मुखा दूरे दूरे सन् गोम स्वर्गच हूरे
छस वादान चूरे चूरे. पोशे मति जानानो ॥

'फूलों के दीवाने प्रियतम क्या रूठ कर चले गये ?

मैंने तुम्हें देखा, बहुत दूर से जाते हुए मैं स्वर्ग की अप्सरा व्याकुल हो रही हूँ, चुपके-चुपके रोती हूँ, तुम रूठ कर चले गये·····

मैं पहाड़ी पर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ।'

बे आर दिलदार, मदन वारे
म्यानि माहवारै यूर यितमो।
बू जुम अचहम सुबहन बानस,
जागै शबनम लागिथ ब
शायद पादन चान्यन लोरें,
म्यानि माह पोरे यूर यितमो····

'आह ! मेरे निष्ठुर प्रियतम, मेरे चाँद के टुकड़े अब आओ...

मैंने सुना, तुम प्रभात को मेरे बाग में आ जाओगे, मैं शबनम बनकर तुम्हें ताकूँगी, संभव है कुछ-कुछ तुम्हारे पैरों से चिमट जाऊँ·····

ओ ! मेरे फूलों के दिवाने···'

इस प्रकार, काश्मीरी काव्य में ज़ाफ़रान (केशर) आस्मान, पांपोश (कमल) और वहाँ के अद्भुत चीज़ों नदी, नालों आदि का अनुपम वर्णन है। और उसमें वहाँ की प्रकृति जिस सूक्ष्म तूलिका एवं अलौकिक हाथों से गढ़ी गयी है, वाणी भी उतनी मृदु और सूक्ष्म भावों से पूरित है। हाँ ! सुनने के लिए जाना होगा, एकांत वन-प्रांतर में, झीलों के तीर पर, दूर-दूर तक फैले मालों के खेतों के आस-पास और कानों को उतना ही सूक्ष्म, दृष्टि को उतना ही व्यापक और हृदय को उतना ही ग्रहणशील और गहन बनाना पड़ेगा।

———

गिरिजाकुमार माथुर

बरफ़ का चिराग़

हिम के सफेद दीपक की लौ
अब हुई लाल।
सदियों से जमी हुई मिट्टी
हो गयी ज्वाल।

यह कमल धरा का बरफीला,
यह झील-कटोरा चमकीला,
ठंडे खेतों का कुसुम बदन
केसर की झाँई से पीला,

लंबे चिनार के पेड़
घाटियों के प्रहरी
नभ की उजली परछाईं
है जिनपर ठहरी।

उठ रहीं शैल मालाएँ
सदियों से जवान,
हर मंज़िल खिंची हुई है
फूलों की कमान,

गोरे मुख पर उड़ता है
हल्का पवन चीर,
है स्वर्ग एक कल्पना
सत्य है काश्मीर।

सूरज सोने का फूल,
चाँद हिम का चिराग
उस दूध धुली मिट्टी से अब
उठ रही आग।

बनकर शमशीर उठी जनता
बजता पर्वत का नक्कारा
नदियाँ बिजली बन उतर पड़ीं
हो गया लाल ध्रुव का तारा।

धरती के ये जन-फूल
जगे बनकर मशाल।
हिम के सफेद दीपक की लौ
अब हुई लाल!

इन चंदन की सीमाओं में
आ गया एक दुर्धर्ष नाग,
पड़ गया धूप के आंचल पर
मानवी रक्त का श्याम दाग़।

ये महादेश का शुभ्र कलश
लहराया इसपर जन-केतन,
जो जीवन मृत केंचुल-सा था
वह निर्गति पिंड हुआ चेतन।

गिरि में निमग्न मनु की आत्मा
जब उठ आयी कर सिंहनाद,
पथ की रज लेने उतर पड़ा
सिंहासन से सांमत वाद।

आघात हुआ यह
अचल हिमाचल के तन पर,
जन-उन्नायक प्रलंयकर
शंकर के मन पर,

जो अग्नि ला रही है जग में
नूतन कृतांत,
वह कर देगी यह विष भी
भस्मीभूत शांत।

बस इसीलिए झुक सका नहीं
यह दग्ध भाल।
हिम के सफेद दीपक की लौ
जब हुई लाल!

मोरस्थीय माइका की भविष्यवाणी

[बाइबिल के पुराण खंड में पैगंबरों की जो भविष्यद्वाणियाँ संग्रहीत हैं, वे नीति-परक काव्य साहित्य में अद्वितीय स्थान रखती हैं। इन कवि द्रष्टाओं के संदेश में समवर्ती बहु-देवता-पूजक समाजों के नैतिक भ्रष्टाचारों का तीव्र विरोध, कर्मकांड को छोड़ शुद्धाचरण के द्वारा एकेश्वर की उपासना का आग्रह, और शासक वर्गों के प्रति लोकजन का अविराम विद्रोह कूट-कूट कर भरा हुआ है। तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक संगठन के ध्वंस की जो पूर्व सूचना वे देते रहे वह कालांतर में सत्य हुई, जो इस बात का प्रमाण है कि उनमें युग-लक्षण पहचानने की अमोघ प्रतिभा थी।

एमोस और होज़ीआ इन दैवज्ञों में प्रथम हैं। पर्वतवासी एमोस की अनिष्ट घोषणाओं से अप्रसन्न होकर उत्तरी राज्य समरिया के शासकों ने उसे बहिष्कृत करके दक्षिण भेज दिया, किंतु कुछ वर्षों बाद उन्हीं के मध्य में दूसरा पापशंकी होज़ीआ प्रकट हुआ। बीस वर्ष बाद अस्सीरियों ने आकर समरिया का ध्वंस किया और अधिकांश प्रजा को दास बनाकर ले गये।

उत्तरी राज्य की इस दुर्घटना के बाद दक्षिण में जूडा राज्य में एक अप्रतिहत स्वर गूँज गया। मोरस्थीय माइका ने घोषित किया कि राजाओं और पुरोहितों के अनाचारों का दंड ईश्वर उनकी शक्ति ध्वस्त करके और राज्य को विस्रस्त करके देगा।

किंतु माइका ने यह भी देखा और सूचित किया कि दंड की अवधि पूरी होने पर पापमुक्ति का युग आयेगा। पाश्चात्य जगत में कदाचित उसी ने पहले पहल विश्वशांति का स्वप्न देखा और उसका प्रचार किया। यह स्वप्न आज भी स्वप्न ही है, तब उस समय की परिस्थिति में वह कितनी धुँधली आधारहीन कल्पना रही होगी! माइका के लिए वह उसके इस अभिनव विश्वास का सीधा परिणाम था कि ईश्वर युद्ध का देवता नहीं न्याय का देवता है।

माइका की भविष्यद्वाणी पापाचरण से मर्माहत, किंतु परम आस्तिकता के कारण 'सत्यमेव जयते' के निष्कंप विश्वासी एक मनीषी की उक्ति है।

बाइबिल यद्यपि गद्यवत् छपता है, तथापि उसमें गद्य-पद्य दोनों ही हैं। हिब्रू कविता में छंद और तुक नहीं है. यद्यपि उसे मुक्तवृत्त कहना भी ठीक न होगा। निरे 'लययुक्त गद्य' से भी वह भिन्न है, क्योंकि उसमें संतुलित पदों अथवा वाक्य खंडों के सम-प्रमाण विधान अथवा व्यूहन से वह स्वर-संगति उत्पन्न होती है जो छंद का काम दे, और प्रतीक्षा की वह संपूर्ति होती है जो कि तुक का उद्दिष्ट है।

प्रस्तुत अनुवाद संपूर्ण वाणी का नहीं, केवल पूर्वार्ध का है।

—अनुवादक]

सुन ओ जनता,
सुन, ओ धरित्री और उस पर बसनेवाले प्राणियों !
ईश्वर तुम्हारे विरुद्ध साक्षी देता है
अपने पवित्र मंदिर से !
क्योंकि देखो—
अपने स्थान से निकल कर वह नीचे आयेगा
गिरिशृंगों पर चरण रखता हुआ,
और उसके तेज से पर्वत गल जायेंगे,
उपत्यकाएँ फट जायेंगी,
जैसे आग के समीप मोम—
जैसे ऊँचाई से बहाया हुआ पानी !

याकोब के अपराध की यह शास्ति है,
और इज़राईल के वंश के पापों की।
और याकोब का अपराध क्या है ?
क्या संपूर्ण समरिया ही वह नहीं है !
और जूडा के शिखर क्या हैं ?
क्या यरूशलम ही वह नहीं है ?
अतएव मैं समरिया को धूल का ढेर बना दूँगा,
या कि उजड़ी हुई बगिया ;
और उसका एक-एक पत्थर घाटी में बिखेर दूँगा।
उसकी नींव को उपाटकर रख दूँगा।

और उसकी सब उत्कीर्ण मूर्तियाँ खंड-खंड हो जायेंगी,
और उनका सब नैवेद्य आग में भस्म हो जायेगा,
और सब देवस्थानों को मैं ध्वस्त कर दूँगा
क्योंकि वे सब व्यभिचार के पण से पले हैं
और व्यभिचार के पण में ही लुट जायेंगे !

अतएव मैं रोऊँगा, विलाप करूँगा विवसन नंगा भटकता हुआ—
अजगरों और उलूकों की पुकार-सी गूँजे गी मेरे क्रंदन की हूक !
क्योंकि असाध्य है उसका व्रण, क्योंकि वह जूडा तक फैल गया है,
क्योंकि वह जन-जन के द्वार तक आ गया है, स्वयं यरूशलम में व्याप्त है।

सुनो मेरी विनती है

सुनो ओ याकोब के कर्त्ताओ, और इज़राईल के राज वंशियों !
सुनो मेरी विनती है ।
क्या तुम नियम की सीमा से परे हो ?
तुम, जो सत्य से घृणा करते हो, और अशिव से प्रेम
तुम, जो मेरी प्रजा की देह से खाल और हड्डियों से मांस नोचते हो
तुम जो उसके रक्त पर जीते हो,
जो उनकी बोटी-बोटी काटते हो, जैसे राँधने के लिए मांस !

अनंतर वे ईश्वर को पुकारेंगे,
पर वह नहीं सुनेगा,
उस समय वह अदृश्य भी हो जायगा
क्योंकि अपने कर्मों में उन्होंने केवल दुराचरण किया है ।

यह आदेश है ईश्वर का
उन पैगंबरों के विषय में जो उसकी प्रजा को पथभ्रष्ट करते हैं
जो दाँतों से काटते हैं और वाणी से पुकारते हैं 'शांति !'
और उनका जो मुँह नहीं भरता उसके विरुद्ध
जो औरों को भड़काते हैं ;
"तुम्हें तमिस्रा ग्रस लेगी, ताकि तुम्हारे चक्षु देख न सकें ;
अंधकार तुम्हें छा लेगा, ताकि तुम्हारी दृष्टि जड़ हो जाय
पैगंबरों का सूर्य अस्त हो जायगा
और उनके दिन तमोमय हो जायेंगे ।
तब द्रष्टा लज्जा से गड़ जायेंगे
और दैवज्ञ हतबुद्धि हो जायेंगे—
हाँ, वे सब अपने ओठ दबा लेंगे
क्योंकि ईश्वर से उत्तर नहीं आयेगा !"

किंतु मैं यथार्थतः समर्थ हूँ
ईश्वर की शक्ति से, और न्याय की और साहस की
कि याकोब की भर्त्सना करूँ उसके कुकृत्यों पर
और इज़ाराईल की उसके पापाचरण पर ।

सुनो, मेरी विनती है सुनो, ओ याकोब वंश के कर्ताओं
और इज़राइल के राजवंशियो
जिनको नियम से द्वेष है
और जो अखिल न्याय-विधान को कलुषित करते हो !

ज़ायन की भित्ती को जिन्होंने रक्त से सींचा,
और यरुशलम को अन्याय से।
जिनके शास्ता विधान बनाते हैं पुरस्कार के लिए,
जिनके पुरोहित धर्मदीक्षा देते हैं भृति के लिए
जिनके द्रष्टा लक्षण विचारते हैं धन के लिए :
किंतु जो फिर भी ईश्वर की दुहाई देकर कहते हैं—
'क्या वह स्वयं हमारे बीच वास नहीं करता ? हम में पाप नहीं है।'

अतएव तुम्हारे कारण ही ज़ायन विदीर्ण होगा, जैसे
हल चलाने से खेत विदीर्ण होता है,
और यरुशलम ध्वस्त होगा,
और राज प्रासाद हो जायेंगे जंगल के सूने द्रुह !

किंतु अंतिम दिनों में

किंतु अंतिम दिनों में यह घटित होकर ही रहेगा—
कि ईश्वर का पर्वतोपम गेह—
पर्वतों के शिखरों से ऊँचा स्थापित होगा ;
पर्वतों से ऊँची उसकी प्रतिष्ठा होगी,
और लोक उसकी ओर उमड़ेगा।
और अनेकों राष्ट्र उधर प्रवृत्त होकर कहेंगे—
'आओ, हम ईश्वर के भवन की ओर उठें,
याकोब के ईश्वर के भवन की ओर उठें :
वह हमें अपना मार्ग दिखायेगा
और हम उस मार्ग पर चलेंगे :
क्योंकि ज़ायन से धर्म का प्रवर्तन होगा
और यरुशलम से ईश्वर की वाणी मुखरित होगी ।

और देश-देश के बीच में ईश्वर विचारक होगा,
वह दूरव्यापी सबल राष्ट्रों की भर्त्सना करेगा ;
और वे अपनी तलवारों से हलों के फाल बनायेंगे
बर्छियों से हँसिये ;
राष्ट्र इतर राष्ट्रों पर तलवार न उठायेंगे
न रण कौशल की शिक्षा ही दी जायेगी ।
उनका जन-जन बैठेगा अपनी वाटिका में, अपने तरु तले
निरापद, भयमुक्त ;
क्योंकि ऐसा ही लोकेश्वर का आदेश है ।
प्रत्येक जन अपने-अपने ईश्वर के पथ का अनुसरण करेगा,
और हम सर्वदा और सर्वत्र अपने परमेश्वर के अनुसारी होंगे ।
"उस दिन," ऐसा ईश्वर का आदेश है,
"जो पंगु है उसे मैं चंगा कर दूँगा,
जो बहिष्कृत है उसे अपनाऊँगा,
जो आक्रांत है उसे निस्तारूँगा ;
उस दिन, जो पंगु था उसे बनाऊँगा अग्रणी
और जो परित्यक्त था उसे बना दूँगा एक समर्थ राष्ट्र ।"

और अपने पर्वत शिखर पर विराजमान ईश्वर उनका शास्ता होगा
उस काल से युग-युगांत के लिए ।

['अज्ञेय' द्वारा अनुवादित]

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

साहित्य के दो पक्ष

मनुष्य जीवन के आदि काल में मनुष्य में जिस समय जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ उस समय वह अपने और अपने चारों ओर के जगत् के बीच संबंध स्थापित करने लगा था। विश्व की अनंत विविधता से संवेष्ठित उसे भय, त्रास, विस्मय आदि का अनुभव हुआ। प्रकृति की इन त्रासकारिणी शक्तियों से उसने स्वात्मरक्षा की चिंता की। चिंता करते हुए भी प्रकृति की इस भयंकर पीठिका में वह अपने 'अहं' को बनाये निश्चल भाव से स्थित रहा। सृष्टि की योजना में अनेक विषमताओं के बीच भी वह अपने अस्तित्व को बनाये रखना चाहता था। यहीं से मनुष्य और उसके चारों ओर के वातावरण में 'दो' की भावना का जन्म हुआ। किंतु इस विषमता के साथ-साथ, इस दो की भावना के बीच में उसने प्रकृति के सौम्य और आह्लादकारी रूप का भी अनुभव किया। वृक्षों, लताओं और पुष्पों की कोमलता, विहंगम के कलरव गान हिममंडित शिखर, उज्ज्वल चाँदनी, आकाश की तारकावलि-खचित नीलिमा और स्वयं अपने अस्तित्व की विविधता में एकात्मता का अनुभव किया। उसने अपने को इस अनंत विश्व की एकप्राणता का अंश मात्र समझा; ससीम को असीम का एक अंग समझा। इतने पर भी मनुष्य अपने ससीम अस्तित्व की परिधि के मोह का परित्याग न कर सका। विश्व के साथ एकप्राणता का अनुभव करते हुए भी वह निजी अस्तित्व को बनाये रखना चाहता था। लेकिन जीवन की इस संकीर्णता को लेकर ही जीवन व्यतीत करना असंभव था। यहीं से अपूर्ण को पूर्ण में मिला देने की बलवती आकांक्षा का उसमें उदय हुआ। अपने निजी अस्तित्व का भार लिये हुए भी रागात्मिका-वृत्ति के धरातल पर स्थित विश्व की अनंत विभूतियों के साथ एकात्मानुभूति द्वारा सत्य और सौंदर्य की यही सृष्टि साहित्य में स्थान पाती रही है। बाह्य जगत और अंतर्जगत का यही अंतर्द्वन्द्व जो मनुष्य की अपनी अपूर्णता से उत्पन्न होता है साहित्य की मूल सृजनात्मक शक्ति है।

मनुष्य की क्षुद्रता या ससीमता और विश्व की व्यापकता या असीमता के घात-प्रतिघात से जो सौंदर्य सृष्टि होती है, वेद की ऋचाएँ उसकी अनुपम उदाहरण हैं।

आगे मनुष्य ज्यों-ज्यों सभ्यता के पथ पर अग्रसर होता गया त्यों-त्यों उसका जीवन जटिल से जटिलतर बनता गया। जिस सौंदर्यपयी प्रकृति की गोद में पल कर अपनी चेतना को साथ लिये हुए विकास मार्ग की श्रेणियाँ पार करता हुआ मनुष्य आगे बढ़ रहा था, उससे वह भटक गया। विश्व में छिपे हुए सत्य की पूर्ण व्याख्या के लिये

जीवन के प्रथम विकास तक ही सीमित रहना वैसे भी असंभव था। नियमानुसार वह उत्तरोत्तर विकास की ओर अग्रसर होता गया। तब उसने नवोत्पन्न उलझनों को सुलझाने के लिए धर्म, समाज-शास्त्र राजनीति आदि का आश्रय ग्रहण किया। जीवन के विविध सूत्रों को राज्य की संगठित शक्ति के केंद्र में स्थापित करने का वह प्रथम प्रयास था। जीवन की विषमताओं पर विजय प्राप्त करते हुए उसने अपनी शक्ति का शतधा प्रसार किया। कौन जाने उसका यह क्रम कब तक अविरल रूप से चलता रहेगा।

विकास के साथ साथ मनुष्य का जीवन क्रम भी बदला। तरह तरह की उत्पादन शक्तियों का जन्म हुआ। मनुष्य के विचारों और भावनाओं में अनेक परिवर्तन हुए। उसने जीवन और अपने चारों ओर के वातावरण के एक भिन्न दृष्टि से देखना सीखा। उसके अपने किये हुए संगठन से अनेक उलझने पैदा हुईं। साथ ही प्रत्येक युग में नयी-नयी समस्याएँ उत्पन्न हुईं।

जिस प्रेरणा से वेद के ऋषि सौंदर्य सृष्टि करने में समर्थ हुए थे उसी प्रेरणा का वशीभूत हो मनुष्य ने साहित्य में विविध भावों की अभिव्यक्ति की। साहित्य ने उसके वातावरण की छाया में पालित-पोषित होकर, और उसकी हृदय वृत्ति के नाना रसों से सिंचित होकर, प्रत्येक युग में नवीन रूप धारण किया।

वेद रामायण, महाभारत तथा परवर्ती संस्कृत साहित्य से यह बात प्रत्यक्ष है। हिन्दी साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालने से भी यही बात प्रमाणित होती है।

महाराज हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद देश छोटे-छोटे राज्यों की अनेक टुकड़ियों में बँट गया था। राजा आपस में ही लड़ भिड़कर अपनी शक्ति का ह्रास करने लगे थे। उस समय कवियों ने भी अपने आश्रयदाताओं का वीर गान कर अपने को कृतकृत्य समझा। वे यह न सोच सके कि उनकी वाणी देश के व्यापक हित के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी या अकल्याणकारी। देश की तत्कालीन अवस्थाओं में यही संभव था। इसके बाद देश में भक्ति का जन्म हुआ। यह आंदोलन देश का महान आंदोलन था जिसका नेतृत्व जनता के हाथ में था। कबीर, तुलसी, सूर, नामदेव, तुकाराम चैतन्य आदि की वाणी से देश में एक नये जीवन का संचार हुआ। इन कवियों की वाणी में परमात्म दर्शन की ही झलक नहीं है वरन् वह अपने युग की विचित्र समस्याओं को संवेष्टित किये हुए है। एक विदेशी धर्म के आघात से देशी जीवन का मेरुदंड झुक जाने पर भी टूटा नहीं था। इसका श्रेय भक्ति आंदोलन को है। उस समय पिछले सामंतवादी युग का प्रकाश बुझ गया था। इसके बाद कालगति से सामंत वर्ग और जनता दोनों में ही निश्चेष्टता आ गई। उनमें अपनी-अपनी पूर्वकालीन सजीविता न रह गई। फलतः कवियों ने जनता के कल्याण-पथ का सृजन करने के बजाय अपने-अपने आश्रयदाताओं की वासना की पूँजी से व्यापार किया। कविता कामिनी ने अपने भ्रूविलासों से उनका

मन बहलाया। सत्य की अवतारणा करनेवाले कवियों ने युग की कामुकता की पंकिलता में कमल खिलाये। मनुष्य की पाशविकता के सहारे उन्होंने रसों का असीम विस्तार किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह युग अपने पूर्ववर्ती युग की प्रतिक्रिया के रूप में था। लेकिन कुछ भी हो, कवियों ने अपने युग का साथ दिया। फिर जिस समय देश अवनति के कर्दम में पड़ा हुआ जीवन व्यतीत कर रहा था उस समय पश्चिम की एक सजीव जाति ने उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अपने साम्राज्य ध्येय की पूर्ति के साथ साथ उसने कुछ आदर्श स्थापित किये जिनसे मोहित होकर देश के उच्च वर्ग ने उन्हें सहयोग प्रदान किया। इस जाति की स्वार्थपरता के साथ-साथ उसके ये उच्च आदर्श ही उसे संसार में एक सफल साम्राज्य की शक्ति बनाने में समर्थ हो सके हैं। पतनोन्मुख जाति के लिए यह पश्चिमी जाति जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण लेकर आयी जिसका देश पर गहरा प्रभाव पड़े बिना न रह सका। भारतीय इतिहास का एक नया परिच्छेद प्रारम्भ हुआ और कवियों ने जीवन की परिवर्तित परिस्थिति के साथ पूर्ण योग दिया।

कहना न होगा यह क्रम अभी बदला नहीं वरन् और भी तीव्र गति से जारी है।

जीवन और साहित्य के इस पारस्परिक घनिष्ट संबंध के अध्ययन से हम एक और महत्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

सौंदर्य संबंधी समस्या के अंतर्गत साहित्य को ललित-कला का एक रूप माना ही जाता है। जीवन में सत्य की खोज के लिए जगत के विविध रूपों का वर्गीकरण किया जाता है। किंतु ऐसा वर्गीकरण सौंदर्य सृष्टि के लिए अनुपयोगी प्रमाणित होगा। सौंदर्य सृष्टि के लिये तो हमें जीवन को अखण्ड रूप में देखना चाहिये। जीवन की व्यापकता और उसकी अभिव्यक्ति, मानव हृदय और चरित्र और उनसे एक अज्ञात शक्ति की सृष्टि से जो आनंद की वीणा अहर्निश झंकृत होती रहती है वही कला और साहित्य की सौंदर्यमयी सृष्टि के लिये उपयुक्त उपकरण है। प्रकृति के अनंत वैभव और जीवन की विभिन्नता को स्वर का माधुर्य प्रदान करना साहित्य की चिरंतन चेष्टा है। लेकिन साहित्य के इस लोकोत्तर रूप के साथ-साथ उसके उपयोगी रूप का भी घनिष्ट संबंध है। सामाजिक जीवन और उसकी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने और उन पर प्रकाश डालनेवाला साहित्य का उपयोगी पक्ष भी कम महत्व नहीं रखता। अपने चारों ओर के वातावरण को स्वीकार कर विभिन्न आदर्शों, भावनाओं, आवश्यकताओं, अभाव पूर्तियों तथा अन्य संख्यातीत विविधताओं का मूल्यांकन कर उन्हें प्रतिष्ठित करना और जीवन को गतिशील बनाना साहित्य के लिये परमावश्यक है। संक्षेप में सूक्ष्म और स्थूल, अंतर्जगत और बाह्य जगत की समस्याओं का समन्वय कर आनंद की सृष्टि के साथ साथ व्यावहारिक दृष्टिकोण से जीवन के लिये, समाज के लिये उपयोगी साधन सिद्ध होना भी साहित्य का स्पष्ट लक्ष्य होना चाहिये।

किंतु प्रायः देखा जाता है कि साहित्यकार या तो साहित्य के आनंद रूप पर अधिक ध्यान देता है या उसके उपयोगी रूप पर यह ठीक है कि साहित्य के एक या दूसरे रूप पर ही अधिक ध्यान देना किसी ध्येय या परिस्थिति पर निर्भर रहता है। लेकिन साहित्यकार का अपनी परिस्थिति या वातावरण के प्रति-पूर्ण आत्म-समर्पण उसके महत्व को बहुत सीमित बना देता है। उसकी अनुभूति जहाँ अखंड, व्यापक, समग्र और सामंजस्य रूप से विद्यमान रहती है वहाँ साहित्य के दोनों रूपों में संबंध विच्छेद का अभाव रहता है। इन दोनों रूपों के अलग होते ही साहित्य का मूल्य गिर जाता है।

हिंदी साहित्य के अध्ययन से इस कथन की पुष्टि होते देर नहीं लगती। वीर गाथाओं में सामंतों की गाथाएँ हैं। जीवन के कठोर धरातल पर स्थित होने के साथ-साथ इन ग्रंथों में मानव-जीवन के उन उच्च स्तरों का निदर्शन नहीं है जहाँ मनुष्य आनंद विभोर हो पुलकित हो उठता है। उनपर उनके वातावरण का ही प्रभाव प्रधान है। आल्हा एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें मानव के अंतर्जगत को स्पर्श कर लेने की शक्ति है। इसीलिये अन्य वीर गाथाओं की अपेक्षा आल्हा जनता के जीवन में घुलमिल गया है। तुलसी साहित्य भी आनंद और उपयोगिता के सामंजस्य के कारण ही आज भी देश के जीवन में स्थायित्व प्राप्त किए हुए है। सूरदास द्वारा अभिव्यक्त अनुभूति मानव जीवन की शाश्वत अनुभूति है। कबीर में समाज-सुधार और रहस्यवाद के चिरंतन सत्य का सुंदर सम्मिश्रण है। मीरा की स्निग्ध वाणी में नारी हृदय की मूल एवं सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यंजना है। रीति कालीन कवियों की कला जीवन से दूर है। भारतेंदु-युग के कवियों का स्वर जीवन का स्वर होते हुए भी कलात्मक दृष्टि से अधिक महत्व पूर्ण स्थान नहीं पा सकता। फलतः इन पिछले दो कालों के कवियों की रचनाओं का साहित्य के इतिहास में स्थान है, जीवन में नहीं। तुलसी जीवन के कवि थे, इसीलिये उनके मानस में जीवन के दोनों पक्षों का सुन्दर सामंजस्य है। आनंद और उपयोगिता वैसे भी जीवन के दो प्रधान और प्रमुख पक्ष हैं। इन दोनों पक्षों के मिल जाने पर ही जीवन की एक अखंड और अजस्र धारा प्रवाहित होती है। वास्तविक जीवन में हम इन दोनों पक्षों को एक साथ न देख पाते हों यह दूसरी बात है। किंतु इससे उनके महत्व और अस्तित्व पर आघात नहीं पहुँचता। साहित्य जीवन को व्यापक दृष्टि से अखंड रूप में देखता है। उनमें से एक का भी अभाव जीवन को खंड रूप में देखने के बराबर होगा।

इन दोनों पक्षों के सामंजस्य का महत्व न समझ सकने के कारण ही आज हिंदी में व्यर्थ का वितंडावाद उठ खड़ा हुआ है।

एक पक्ष है जो संवेदनात्मक दृष्टि से मानव जीवन के केवल सूक्ष्म जगत को ही अपनाना चाहता है। सूक्ष्म जगत का महत्व होते हुए भी वह पूर्ण सत्य नहीं है। इस प्रकार का काव्य दर्शन बनने की ओर अधिक उन्मुख हो जाता है और उसमें

हमें रचयिता के अनुभव मात्र के दर्शन होते हैं न कि अनुभवजन्य परिणाम के। इस साहित्य में चित्रमय मानव जीवन के केवल एक पक्ष का आभास प्राप्त होता है। इस साहित्य के स्रष्टा दीप को अकंपित और अचंचल जलाना चाहते हैं। पथ ही उनका निर्वाण है, हृदय की शून्यता को लिये हुए वे किसी तिमिराच्छन्न अज्ञात पथ के पथिक हैं, जिनके अश्रुओं में प्रलय पयोधि तरंगित होता रहता है, जिनके प्राण आहत हैं और स्वर संधान टूटा हुआ है, जिनके प्यास से भरे नेत्र अभिसार करते रहते हैं और जो अनंत नींद का वरदान माँगते हैं। इस प्रवृत्ति में सौंदर्य की अमिट पिपासा है, काव्य-प्रतिभा है। किंतु इसमें 'कला कला के लिये' की ओर झुकाव पाया जाता है। चिंतन के क्षणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता। जिस व्यापक जीवन के ये क्षण अंग हैं उससे अलगाव पाया जाता है। इन क्षणों को छोड़कर वास्तविक जीवन के निकट उनका महत्व अधिक नहीं। इसीलिये जीवन में उपयोगिता के प्रति यह साहित्य उदासीन पाया जाता है। उसका क्षेत्र व्यापक होते हुए भी एक प्रकार से संकुचित ही है क्योंकि वह जीवन के केवल एक पक्ष को लेकर चलता है, और यह पक्ष पूर्ण जीवन नहीं है। सामाजिक जीवन के विधान में, सूक्ष्म जगत केवल एक खंड भाग का प्रदर्शन करता है।

दूसरा पक्ष है जो केवल स्थूल जगत तक ही अपनी कलात्मक सृष्टि को सीमित रखना चाहता है। वह साहित्य को उपयोगिता मात्र की दृष्टि से देखता है। सूक्ष्म जगत वाला साहित्य और स्थूल जगत वाला साहित्य दोनों ही जीवन में साम्य स्थापित कर अपने ध्येय की पूर्ति करना चाहते हैं। किंतु एक में दूसरे पक्ष का निर्वासन पाया जाता है। केवल उपयोगिता तक सीमित रहनेवाला साहित्य एक विशेष कार्यक्रम का अनुचर बनना चाहता है। साथ ही जीवन के आर्थिक पहलू पर जोर देते हुए इस प्रकार के साहित्य-निर्माता भाव परंपरा, संस्कृति, काव्य प्रवाह आदि बातें भूल जाते हैं और इसीलिये वे कला के केवल आनंदमय स्वरूप को भी नहीं मानते। साहित्य में अतीत को भूलजाना असंभव है लेकिन अतीत के पर्दे में ही मुँह छिपाये रहना साहित्य के लिये घातक है। केवल युगधर्म का अनुसरण करना प्रगति अवश्य है किंतु युगधर्म को अपनी भुजाओं में संवलित करते हुए युग से ऊपर उठ जाना महानता है। केवल युगधर्म पार्थिव है, इसलिये विनाशवान है। युगधर्म को लिये हुए, युग युग का धर्म अपार्थिव हैं इसलिये अमर है।

कहने का तात्पर्य यह है कि यदि एक जीवन के एक पक्ष को लेकर चलता है तो दूसरा जीवन के दूसरे पक्ष को। साहित्य के लिये यही आंशिक दृष्टिकोण तरह-तरह की समस्याएँ पैदा करता और साहित्य के मूल्य को गिरा देता है।

वास्तव में साहित्य के आनंदमय स्वरूप और उपयोगी स्वरूप के अंतर्गत मनुष्य की अंतस्तम प्रवृत्तियों और उसके बाह्य वातावरण के सुंदर सामञ्जस्य से ही साहित्य मानवता के लिये चिरंतन आनंद की वस्तु होने के साथ-साथ युगधर्म का पालन भी कर सकता है।

हिंदी साहित्य-प्रगति

['प्रतीक' में समालोचना के लिये समय-समय पर नयी हिंदी पुस्तकें हमारे पास आती हैं। हिंदी में प्रकाशन जिस तेज़ी से बढ़ रहा है, उसे देखते कोई भी पत्र सब पुस्तकों की समीक्षा नहीं कर सकता ; 'प्रतीक' जैसा सावधि संग्रह तो और भी नहीं। पुस्तकों की चलती आलोचना करके एक साथ ही पत्र और पुस्तक दोनों का 'पाप काटना' पाठक के प्रति गुरु अपराध है, ऐसा हम मानते हैं। इसलिये हम अपने पास आयी हुई पुस्तकों की परिचयात्मक सूची देकर ही संतोष करेंगे। जिन कतिपय ग्रंथों की आलोचना आगामी संख्याओं में दे सकने की आशा है, उन पर * चिह्न लगा है।

'प्रतीक' में आलोचनार्थ पुस्तक की एक ही प्रति भेजनी चाहिये। यदि आलोचना हो सकेगी, तब आवश्यकतानुसार एक या अधिक प्रतियाँ और मँगायी जा सकेंगी।

—संपादक]

अनुक्रम—पुस्तक का नाम, लेखक का नाम, प्रकाशक, पृष्ठ-संख्या, मूल्य, परिचय।

हमारी समस्याएँ : श्रीमती राजकुमारी बिंदल ; हिंद किताब्स, बंबई ; ८+९० ; १॥)

गृहस्थ भारतीय नारी के समस्याओं पर एक स्त्री के विचार।

हमारी कपड़े की समस्या : डा० जगदीशचंद्र जैन ; हिंद किताब्स, बंबई ; ८० ; १॥)

यथानाम। आँकड़ों से परिपुष्ट।

सिकंदर : श्री सुदर्शन ; हिंद किताब्स ; बंबई ८+१६६ ; २॥)

इसी नाम के चलचित्र पर आधारित तीन अंकों का नाटक, सजिल्द।

उपहास : हंसराज 'रहबर'; इंडिया पब्लिशर्स, इलाहाबाद ; १८५ ; २॥)

पंद्रह कहानियाँ।

हिंदी काव्य में प्रगतिवाद : विजयशंकर मल्ल ; सरस्वती मंदिर बनारस ; १५४ ; २।)

नूतन आलोक : अनुवादक अमृतराय ; हिंदुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद २१० ; २॥)।

१४ अनुवादित विदेशी कहानियाँ।

नंदिनी : चंद्रकुंवर बर्त्वाल ; एजुकेशनल पब्लिशिंग कंपनी लखनऊ ; ७६ ; १।)

खंड-काव्य।

जीवन के पहलू : अमृतराय ; हिंदुस्तानी पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद ; १८६ ; २) २३ कहानियाँ/स्केच ।

महाकाल : अमृतलाल नागर ; भारती भंडार, इलाहाबाद ; २५२ ; ३) सजिल्द । बंगाल के दुर्भिक्ष संबंधी उपन्यास ।

गीत काव्य : रामखेलावन पांडेय ; ज्ञानमंडल, काशी ; ३८६ ; ५) सजिल्द ।

काव्य-दर्पण : रामदहिन मिश्र ; ग्रंथमाला कार्यालय बाँकीपुर ; ५७४ ; १०) सजिल्द । नवीन हिंदी उदाहरणों से युक्त साहित्य शास्त्र ।

महादेवी की रहस्य-साधना : लेखक-प्रकाशक, विश्वंभरनाथ मानव, मुरादाबाद ; १८८ ; २)

अवसाद : लेखक-प्रकाशक, विश्वंभरनाथ मानव, मुरादाबाद, ५२; ।।।) कविता-संग्रह ।

निराधार : लेखक-प्रकाशक, विश्वंभर नाथ मानव, मुरादाबाद; १२६ ; १।) खंडकाव्य ।

प्रगतिवाद की रूपरेखा : शिवचंद्र ; किताब महल, इलाहाबाद ;३००; ५) निबंध संग्रह ।

झरोखे : सुदर्शन ; हिंद किताब्स, बंबई ; ८० ; १।) कहानियाँ ।

गंदगी : छेदीलाल गुप्त : पुष्पसाहित्य मंदिर, कलकत्ता ; १४६, २)

स्वप्न और सत्य : ब्रजमोहन गुप्त ; साहित्यकार संसद, प्रयाग ; १३४ ; ३।) कहानियाँ ।

गीतिमाला : सं० रामविलास शर्मा; हिंदी ज्ञानमंदिर, बंबई; ८०; दाम नहीं लिखा । कबीर से हरिश्चंद्र तक के चुने हुए गीत ।

एक अपरिचित स्त्री के पत्र : अनु० रामकुमार; हिंदी ज्ञानमंदिर बंबई ; ८२; १।) स्टीफ़ेन ज्वाइग के लघु उपन्यास का अनुवाद ।

इंसान और अन्य एकांकी : विष्णु प्रभाकर ; हिंदी ज्ञानमंदिर बंबई; ६०; १।)

माता-पिता खुद एक समस्या : एस० नील; अनु० संतोषकुमार मेहता : हिंन्दी ज्ञान मंदिर बंबई ; १७८; ३)

कवि परिपाटी : दिवाकर त्रिपाठी 'मणि'; विद्याभास्कर बुकडिपो, काशी ; २६२ ; ४

४२ विद्रोह : शंभुनाथ सिंह ; साधना मंदिर, काशी ; ११२ ; १।।।)

आचार्य नरेंद्रदेवकी भूमिका।

पुरुष-सूक्त : संपूर्णानंद ; शारदा प्रकाशन, काशी ; ६४ ; १।)

सूक्त और श्रुतिप्रभा टीका।

आदि और अंत : विष्णु प्रभाकर ; प्रदीप प्रकाशन, मुरादाबाद ; १४६ १।।)

आठ कहानियाँ।

रहमान का बेटा : विष्णु प्रभाकर ; नवयुग साहित्य सदन इंदौर ; २१० ; २।।)

उन्नीस राजनीतिक कहानियाँ।

इस अंक के लेखक

गोरिजाकुमार माथुर : कवि ; आल इंडिया रेडियो लखनऊ में हैं। प्रस्तुत कविता काश्मीर के जन-आंदोलन से प्रेरित होकर लिखी गयी है।

गुलाबराय : हिंदी की वयोवृद्ध सेवी, अध्यापक और आलोचक ; भोले निर्द्वेष विनोद से पूर्ण गद्य आपकी विशेषता है।

कंवर बर्त्वाल : गढ़वाल के इस तरुण कवि का क्षय से असमय देहांत हो गया; पर उसकी बहुमुखी और उर्वरा प्रतिभा बहुत-सी सामग्री छोड़ गयी है जो अभी अप्रकाशित है। एक खंड-काव्य 'नंदिनी' प्रकाशित हुआ है।

नरेंद्रकुमार : इधर लेखन-संन्यासी, इस गहरे चिंतक और सूक्ष्म सत्यान्वेषी लेखक के उपन्यासों का हिंदी में अद्वितीय स्थान है। प्रस्तुत लेख से उसकी मूल प्रेरणाओं और आदर्शों को समझने में सहायता मिलेगी।

परमेश्वर राज : साहित्य-पारखी और कवि, प्रयाग विश्वविद्यालय के डी०फिल०, राजेंद्र कालेज छपरा के आचार्य।

'बच्चन' : प्रसिद्ध कवि, प्रयाग विश्वविद्यालय में अध्यापक, गांधीजी पर लिखी हुई शताधिक कविताओं का संग्रह तय्यार हो रहा है।

भगवतशरण उपाध्याय : अन्वेषी इतिहास-वेत्ता और कहानी लेखक ; आपने ऋग्वेद-काल का विशेष अध्ययन किया है और उसी की भूमिका लेकर कहानियाँ भी लिखी हैं। कालिदास-युग पर एक अनुसंधान ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। ऐतिहासिक निबंधों का एक संग्रह भी छप रहा है।

मैथिलीशरण गुप्त : महाभारत की वस्तु लेकर जो नया काव्य गुप्तजी लिख रहे हैं, उसी का एक अंश यहाँ दिया गया है।

रघुकुल तिलक : राजनीतिक कार्य-कर्त्ता, युक्तप्रांतीय व्यवस्थापिका के सदस्य। कम लिखते हैं, लेकिन साफ़ मँजी हुई भाषा में और सूक्ष्म व्यंग्य-हास्य की पुट देकर। कई बरस बाद यह कहानी प्रकाशित हो रही है।

लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : डी० फिल०, प्रयाग विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में हैं।

सत्यवती मलिक : कला-संवेदना संपन्न कहानी लेखिका ; कुछ समय पहले काश्मीर घूमकर आयी हैं।

सत्येंद्र शरत् : नवयुवक कहानी और एकांकी लेखक ; एक कहानी-संग्रह छपा है।

'सुमन' : कवि, प्रोफेसर, अध्येता। प्रतीक ४ में गांधीजी की वर्षगाँठ पर समर्पित की गयी कविता छपी थी।

राजशेखर बसु : बँगला में व्यंग्य, हास्य के सुप्रसिद्ध लेखक, रासायनिक। छद्मनाम 'परशुराम' से हिंदी के बहुत-से पाठक परिचित होंगे—इसी नाम से उनके दो-तीन कहानी-संग्रह हिंदी में छपे हैं।

प्रस्तुत संख्या में पृ० १६ के सामने जो फ़ोटो प्रकाशित हुए हैं, उनमें से एक—गांधीजी की अस्थियों के जुलूस का—श्रीसाँवल वर्मा द्वारा लिया गया था ; दूसरा अस्थि-प्रवहण के समय वायुयान से पुष्पवर्षा का—श्रीअर्गल द्वारा। दोनों के सौजन्य से ही चित्रों का प्रकाशन संभव हुआ है।